गिजुभाई-ग्रन्थमाला-4
माँ-बाप बनना कठिन है
गिजुभाई

गिजुभाई-ग्रंथमाला–4

माँ-बाप बनना कठिन है

लेखक

गिजुभाई

अनुवाद

काशिनाथ त्रिवेदी

मोण्टीसोरी-बाल-शिक्षण-समिति,

राजलदेसर (चूरू) 331802

प्रकाशक :
मोण्टीसोरी-बाल-शिक्षण-समिति,
राजलदेसर

आर्थिक सहयोग :
श्री गुलाबचंद महेन्द्रकुमार चण्डालिया
बम्बई

प्रकाशन-वर्ष : 1987
प्रतियां : 1,100
मूल्य : आठ रुपये मात्र

मुद्रक :
सांखला प्रिंटर्स,
सुगन निवास, बीकानेर

प्रकाशकीय

हमारे साथियों ने जब यहाँ पर सन् 1954 में अभिनव बालभारती नामक संस्था स्थापित की थी, तभी मेरे जेहन में बाल-शिक्षण के साथ ही साथ अध्यापकों को प्रशिक्षण देने का विचार भी उठ रहा था, बल्कि अभिभावकों द्वारा प्रशिक्षण लेने का विचार भी मेरे मन में बहुत प्रबल था। मैं सौभाग्यशाली रहा कि एक बार कलकत्ते में मुझे प्रख्यात बाल-शिक्षाविद् स्व. के. यू. भामरा से प्रशिक्षण लेने का अवसर मिला, सन् 1958-59 में।

उस प्रशिक्षण ने मेरे इस चिंतन की दिशा को और भी पुष्ट कर दिया कि बाल-शिक्षण के लिए अध्यापकों का ही नहीं, माता-पिताओं का भी नजरिया बदलना जरूरी है। मेरे आग्रह पर स्व. के. यू. भामरा यहाँ पधारे और सन् 1962 में उन्होंने मोण्टीसोरी प्रशिक्षण का काम शुरू किया। आज 25 वर्षों से अध्यापकों के शिक्षण-प्रशिक्षण का कार्यक्रम यहाँ जारी है और अब तक लगभग 200 अध्यापक प्रशिक्षण का लाभ हासिल कर चुके हैं।

मैं अब भी बराबर अनुभव करता रहा हूँ कि अध्यापक बनने के लिए मोण्टीसोरी-शिक्षण का प्रशिक्षण लेना एक बात है, और बच्चों के माता–पिता बनने के लिए प्रशिक्षण लेना एक अलग अहमियत रखता है। मेरी पत्नी और दोनों पुत्रियों ने महज इसी इरादे से प्रशिक्षण लिया था। मैं चाहता हूँ कि अभिभावकों को इस दिशा में प्रेरित किया जाना जरूरी है। इसी इरादे से पिछले दिनों हमने संस्था में 'अभिभावकत्व-शिक्षण' पर एक संगोष्ठी भी आयोजित की थी। संगोष्ठी में बाल-शिक्षण के अछूते पक्षों पर तो रोशनी डाली ही गई, संस्था के लिए एक सुझाव भी सामने आया कि माता-पिता की शिक्षा के लिए शैक्षिक-साहित्य प्रकाशित कराया जाए। हमने इसे

स्वीकार किया, और पहला कदम यह उठाना जरूरी समझा कि देश के महान बाल-शिक्षाविद् स्व. गिजुभाई बधेका की गुजराती भाषा में लिखी हुई पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद करवाकर पुस्तकाकार प्रकाशित करें। इस दिशा में इंदौर के महान गाँधीवादी चिंतक एवं मध्य भारत के प्रथम शिक्षामन्त्री श्री काशिनाथ त्रिवेदी का हमें अभूतपूर्व सहयोग एवं प्रोत्साहन मिला। स्व. गिजुभाई की अनेक पुस्तकों का वे सन् 1932-34 के कार्यकाल में ही अनुवाद कर चुके हैं, और शेष का भी अनुवाद करने का उनका संकल्प है। इसी दिशा में मुझे 'शिविरा-पत्रिका' के संपादकीय सहकर्मी श्री रामनरेश सोनी का भी सहयोग मिला है।

पुस्तक-प्रकाशन का काम अपने आप में बहुत कठिन होता है, विशेषतया अर्थ के अभाव में तो असम्भव प्रायः हो जाता है। पर हमारा सौभाग्य है कि मेरे अनुरोध को यशस्वी दानदाताओं ने स्वीकार किया, और प्रत्येक पुस्तक को अकेले अपने ही आर्थिक-सहयोग से छापने का भार वहन किया है।

प्रस्तुत पुस्तक 'माँ-बाप बनना कठिन है' के प्रकाशन का व्यय भार बम्बई के हमारे मित्र तथा बाल शिक्षा में गहन रुचि रखने वाले श्री गुलाबचन्द महेन्द्र कुमार चण्डालिया ने सहर्ष वहन किया है। अभिभावकों की शिक्षा की बड़ी ही रोचक तथा उपयोगी पुस्तक के प्रकाशन के माध्यम बने हैं वे। इस योगदान के लिए संस्था की ओर से उनका कोटिशः आभार।

इस पुस्तक की 'भूमिका' के लिए जाने-माने शिक्षाविद् प्रो. दिवाकर शास्त्री का और सम्पादकीय निवेदन के लिए श्रद्धेय काशिनाथ त्रिवेदी का मैं हार्दिक आभार मानता हूँ। काशिनाथजी ने तो गिजुभाई की समस्त गुजराती पुस्तकों को ग्रन्थमाला के रूप में प्रकाशित करने हेतु दक्षिणामूर्ति-बालमंदिर, भावनगर की आचार्या श्रद्धेय विमलाबहन बधेका से भी हमारे लिए पत्राचार करके उनकी स्वीकृति प्राप्त की है। इसके लिए भी हम उनके आभारी हैं।

मोण्टीसोरी-बाल-शिक्षण-समिति —कुन्दन बैद
राजलदेसर

संपादक का निवेदन

हिन्दी में गिजुभाई-ग्रंथमाला का अवतरण

अपने जन्म से पहले अपनी माँ के गर्भ में, और जन्म के बाद अपने माता-पिता और परिवार के बीच, हमारे निर्दोष और निरीह बच्चों को हमारी ही अपनी नादानी, नासमझी और कमजोरियों के कारण शरीर और मन से जुड़े जो अनगिनत दुःख निरन्तर भोगने पड़ते हैं, जो उपेक्षा, जो अपमान, जो तिरस्कार, जो मार-पीट और डाँट-फटकार उनको बराबर सहनी पड़ती है, यदि कोई माई का लाल इन सब पर एक लम्बी दर्द-भरी कहानी लिखे, तो निश्चय ही वह कहानी, हम में से जो भी संवेदनशील हैं, और सहृदय हैं, उनको रुलाये बिना रहेगी ही नहीं। अपने ही बालकों को हमने ही तन-मन के जितने दुःख दिए हैं, चलते-फिरते और उठते-बैठते हमनेउन को जितना मारा-पीटा, रुलाया, सताया और दुरदुराया है, उसकी तो कोई सीमा रही ही नहीं है। इन सबकी तुलना में हमारे घरों में बालकों के सही प्यार-दुलार का पलड़ा प्रायः हलका ही रहता रहा है।

ऐसे अनगिनत दुखी-दरदी बालकों के बीच उनके मसीहा बनकर काम करने वाले स्वर्गीय गिजुभाई बधेका की अमृत वर्षा करने वाली लेखनी से लिखी गई, और माता-पिताओं और शिक्षक-शिक्षिकाओं के लिए वरदान-रूप बनी हुई छोटी-बड़ी गुजराती पुस्तकों के हिन्दी अनुवाद इस गिजुभाई-ग्रंथमाला के नाम से प्रकाशित करने का सुयोग और सौभाग्य बाल-शिक्षा के काम में लगी हमारी एक छोटी-सी शिक्षा-संस्था को मिला है, इसकी बहुत ही गहरी प्रसन्नता और धन्यता हमारे मनः-प्राण में रम रही है। हमको लगता है कि इससे अधिक पवित्र और पावन काम हमारे हिस्से न पहले कभी आया, और न आगे कभी आ पाएगा। हम अपनी इस कृतार्थता को किन शब्दों में और कैसे व्यक्त करें, इसको हम समझ नहीं पा रहे हैं। हम नम्रतापूर्वक मानते हैं

कि परम मंगलमय प्रभु की परम सुख देने वाली आन्तरिक प्रेरणा का ही यह एक मधुर और सुखद फल है। इसको लोकात्मा रूपी और घट-घट-व्यापी प्रभु के चरणों में सादर, सविनय समर्पित करके हम धन्य हो लेना चाहते हैं।

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पयेत् !

क्राउन सोलह पेजी आकार के कोई तीन हजार की पृष्ठ संख्या वाली इस गिजुभाई-ग्रंथमाला में गिजुभाई की जिन 15 पुस्तकों के हिंदी अनुवाद प्रकाशित करने की योजना बनी है, उनमें पुस्तकें माता-पिताओं के लिए हैं। चारों अपने ढंग की अनोखी और मार्गदर्शक पुस्तकें हैं। घरों में बालकों के जीवन को स्वस्थ, सुखी और समृद्ध बनाने की प्रेरक और मार्मिक चर्चा इन पुस्तकों की अपनी विशेषता है। ये हैं :

1. माता-पिता से
2. मां-बाप बनना कठिन है
3. माता-पिता के प्रश्न, और
4. माँ-बापों की माथा पच्ची।

बाकी ग्यारह पुस्तकों में बाल-जीवन और बाल-शिक्षण के विविध अंगों की विशद चर्चा की गई है। इनके नाम यों हैं :

1. मोण्टीसोरी-पद्धति
2. बाल-शिक्षण, जैसा मैं समझ पाया
3. प्राथमिक शाला में शिक्षा-पद्धतियां
4. प्राथमिक शाला में शिक्षक
5. प्राथमिक शाला में भाषा-शिक्षा
6. प्राथमिक शाला में चिट्ठी-वाचन
7. प्राथमिक शाला में कला-कारीगरी की शिक्षा, भाग 1-2
8. दिवास्वप्न
9. यदि आप शिक्षक हैं
10. चलते-फिरते
11. कथा-कहानी का शास्त्र, भाग 1-2

इनमें 'मोण्टीसोरी पद्धति', 'दिवास्वप्न' और 'कथा-कहानी का शास्त्र' ये तीन पुस्तकें अपनी विलक्षणता और मौलिकता के कारण शिक्षा-जगत् के लिए गिजुभाई की अपनी अनमोल और अमर देन बनी हैं। इनमें बाल-देवता के पुजारी और बाल-शिक्षक गिजुभाई ने बहुत ही गहराई में जाकर अपनी आत्मा को उंडेला है। बाल-जीवन और बाल-शिक्षण के मर्म को समझने में ये अपने पाठकों की बहुत मदद करती हैं। बार-बार पढ़ने, पीने, पचाने और अपनाने लायक भरपूर सामग्री इनमें भरी पड़ी है। ये अपने पाठकों को बाल-जीवन की गहराइयों में ले जाती हैं, और बाल-जीवन के मर्म को समझने में पग-पग पर उनकी सहायता करती हैं।

गिजुभाई की इन पन्द्रह रचनाओं में से केवल दो रचनाएं, 'दिवास्वप्न' और 'प्राथमिक शाला में भाषा-शिक्षा' सन् 1934 में पहली बार हिन्दी में प्रकाशित हुई थीं। शेष सब रचनाएँ अब सन् 1987 में क्रम-क्रम से पुस्तक के रूप में प्रकाशित होने वाली हैं। पचास से भी अधिक वर्षों तक हिन्दी-भाषी जनता का हमारा शिक्षा-जगत् इन पुस्तकों के प्रकाशन से वंचित बना रहा। न गिजुभाई का जन्म-शताब्दी-वर्ष आता, और न यह पावन अनुष्ठान हमारे संयुक्त पुरुषार्थ का एक निमित्त बनता। 15 नवम्बर, 1984 को शुरू हुआ गिजुभाई का जन्म-शताब्दी वर्ष 15 नवम्बर, 1985 को पूरा हो गया। किन्तु गुजरात की बाल-शिक्षा-संस्थाओं ने और बाल-शिक्षा-प्रेमी भाई-बहनों ने गुजरात की सरकार के साथ जुड़कर जन्म-शताब्दी-वर्ष की अवधि 15 नवम्बर, 86 तक बढ़ाई, और गिजुभाई के जीवन और कार्य को उसके विविध रूपों में जानने और समझने की एक नई लहर गुजरात-भर में उठ खड़ी हुई। गुजरात के पड़ौसी के नाते उस लहर ने राजस्थान, मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश के हम कुछ साथियों को भी प्रेरित और प्रभावित किया। फलस्वरूप गिजुभाई-ग्रंथमाला को हिन्दी में प्रकाशित करने का शुभ संकल्प राजस्थान के राजलदेसर नगर के बाल-शिक्षा-प्रेमी नागरिक भाई श्री कुन्दन बैद के मन में जागा, और उन्होंने इस ग्रंथमाला को हिन्दी-भाषी जगत् के हाथों में सौंपने का बीड़ा उठा लिया।

हमको विश्वास है कि भारत का हिन्दी-भाषी जगत् विशेषकर उसका हिन्दी-भाषी शिक्षा-जगत्, अपने बीच इस गिजुभाई-ग्रंथमाला का भरपूर

स्वागत, मुक्त और प्रसन्न मन से करेगा, और इससे प्रेरणा लेकर अपने क्षेत्र के बाल-जीवन और बाल-शिक्षण को सब प्रकार से समृद्ध बनाने के पुण्य-पावन कार्य में अपने तन-मन-धन की तल्लीनता के साथ जुट जाना पसन्द करेगा। हिन्दी में गिजुभाई-ग्रन्थमाला के अवतरण की इससे अधिक सार्थकता और क्या हो सकती है ?

अपने जीवन-काल में गिजुभाई ने अपनी रचनाओं को अपनी कमाई का साधन बनाने की बात सोची ही नहीं। अपने चिन्तन और लेखन का यह नैवेद्य भक्तिभावपूर्वक जनता जनार्दन को समर्पित करके उन्होंने जिस धन्यता का वरण किया, वह उनकी जीवन-साधना के अनुरूप ही रहा। गिजुभाई के इन पदचिह्नों का अनुसरण करके हमने भी अपनी गिजुभाई-ग्रंथमाला को व्यावसायिकता के स्पर्श से मुक्त रखा है, और ग्रंथमाला की सब पुस्तकों को उनके लागत मूल्य में ही पाठकों तक पहुँचाने का शुभ निश्चय किया है।

बीकानेर, राजस्थान, के हमारे बाल-शिक्षा-प्रेमी साथी, जाने-माने शिक्षाविद् और गिजुभाई के परम प्रशंसक श्री रामनरेश सोनी इस ग्रन्थमाला के अनुष्ठान को सफल बनाने में हमारे साथ सक्रिय रूप से जुड़ गए हैं, इससे हमारा भार बहुत हलका हो गया है।

हमको खुशी है कि हमारे साथी श्री कुन्दन बैद इस ग्रन्थमाला की 15 पुस्तकों के लिए पन्द्रह ऐसे उदार और सहृदय दाताओं की खोज में लगे हैं, जो इनमें से एक-एक पुस्तक के प्रकाशन का सारा खर्च स्वयं उठा लेने को तैयार हों। इसमें भी पहल श्री कुन्दन बैद ने ही की है। त्याग और तप की बेल तो ऐसे ही खाद-पानी से फूलती-फलती रही है !

—काशिनाथ त्रिवेदी

गांव—पीपल्याराव,
इन्दौर—452 001

दूसरे संस्करण का निवेदन
(गुजराती)

यह पुस्तक स्वर्गीय श्री गिजुभाई की शिक्षा-विषयक पुस्तकों में से एक है। श्री दक्षिणामूर्ति प्रकाशन मन्दिर के बन्द हो जाने के कारण जो कुछ पुस्तकें अप्राप्य हो चुकी थीं, उनमें से एक यह भी है। अब हमने यह निश्चय किया है कि स्वर्गीय श्री गिजुभाई की शिक्षा-सम्बन्धी और शिक्षकों तथा माता-पिताओं के लिए उपयोगी सब पुस्तकों को क्रम-क्रम से फिर प्रकाशित करें।

जिस जमाने में यह पुस्तक लिखी गई थी, उसमें और आज के जमाने में बालकों के साथ के बरताव की दृष्टि में, कोई बड़ा परिवर्तन हुआ लगता नहीं है। शिक्षा-विषयक चर्चाएँ बहुत होती रहती होंगी, और शिक्षा-सम्बन्धी नई पुस्तकें भी लिखी जाती होंगी। लेकिन अभी तक ऐसी पुस्तकों का प्रकाशन हुआ देखा नहीं है, जिनमें माता-पिताओं के लिए रोज़-रोज़ के उनके व्यवहार में बालकों के साथ काम करने की बातें सीधी और सरल भाषा में प्रभावकारी ढंग से लिखी गई हों।

मनोविज्ञान-सम्बन्धी कठिन और दुर्बोध पुस्तकों से आम जनता अपने लिए कोई प्रभावशाली मार्गदर्शन प्राप्त नहीं कर सकती। बालकों के बहुविध व्यवहारों को ध्यान में रखकर उनके साथ काम करने के मामले में माता-पिता के सामने स्पष्ट और युक्ति-युक्त सुझाव रखने वाली पुस्तकों की विशेष आवश्यकता है। प्रसंग, भाषा और लेखन की दृष्टि से लोकभोग्य और हृदयस्पर्शी शैली में इस सारी चर्चा को प्रस्तुत करने का काम, मेरे नम्र

विचार में, स्वर्गीय श्री गिजुभाई के अतिरिक्त किसी और ने किया हो, इसकी कोई जानकारी मुझ को नहीं है ।

मैं अपनी इस स्पष्ट भावना के साथ इस पुस्तक को प्रकाशित करने की आवश्यकता का अनुभव कर रहा हूँ कि आज अपने देश की सर्वांगीण पुनर्रचना के काम में इस प्रकार की पुस्तकें बहुत ही उपकारक बन सकती हैं । आशा है, मेरी यह इच्छा पूरी होगी ।

मार्च, 1956

—नरेन्द्र बधेका

भूमिका

अमृत-दृष्टि की तलाश

व्यक्ति एवं समाज के विकास के एक कारक के रूप में शिक्षा को सभी स्वीकारते हैं । जो विचारक शिक्षा के लिये संगठित विद्यालय व्यवस्था की उपयोगिता को नकारने से सहमत नहीं हैं वे भी इस बात को तो मानते हैं कि विद्यालय शिक्षा का एकमात्र अभिकर्ता नहीं है । शिक्षा के अनेक अभिकर्ताओं में से एक महत्वपूर्ण अभिकर्ता परिवार है । व्यक्तित्व के निर्माण के लिये जीवन के सर्वाधिक महत्वपूर्ण काल में शिक्षा का दायित्व बहुत कुछ परिवार पर आता है । कहा गया है कि पहली शिक्षक माँ होती है । इसमें यह जोड़ना होगा कि पहले शिक्षक माता-पिता होते हैं । परिवार के अन्य सदस्य भी अहम भूमिका निबाहते हैं किन्तु अन्य सदस्यों का दायित्व माता-पिता के दायित्व के विचार में समाहित हो जाता है । माता-पिता ही परिवार के अन्य बालिग सदस्यों के रूप में भी होते हैं और छोटे सदस्य माता-पिता से जो ग्रहण करते हैं वह ही अपने सम-आयु सदस्यों के साथ संसर्ग में व्यवहरित करते हैं ।

समाज के उपयोगी सदस्य के रूप में व्यक्ति का विकास करने में शिक्षा का दायित्व उजागर है । किसी भी व्यवसाय या वृत्ति के लिये आवश्यक शिक्षण व प्रशिक्षण का आयोजन शिक्षा व्यवस्था की जिम्मेदारी माना जाता है । चाहे इंजीनियर का कार्य हो, चाहे डॉक्टर का या फिर वकील का, व्यक्ति को दक्षता प्राप्त करने के लिये लम्बी अवधि की व्यवस्थित शिक्षा एवं प्रशिक्षण प्राप्त करने होते हैं । इसी प्रकार शिक्षक के लिये भी प्रशिक्षित होना आवश्यक माना गया है । आश्चर्य की बात है कि जिन माता-पिता को शिशु का प्रथम शिक्षक माना जाता है उनके लिये भी अपने दायित्व को ठीक प्रकार

से निबाहने के लिये किसी प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता है ऐसा सुस्पष्ट नहीं मालूम होता।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि जनक दायित्व अथवा बाल अवस्था में अनुभवों के व्यक्तित्व पर पड़ने वाले प्रभाव अध्ययन से अछूते हैं अथवा कि इनका महत्व स्वीकार नहीं किया गया है।

बाल मनोविज्ञान के क्षेत्र में व्यापक अध्ययन हुआ है। बाल मनोविज्ञान एवं बाल विकास के सम्बन्ध में अनेक संधारणाएं, प्रतिपादित हुई हैं और ये विषय अध्ययन एवं अध्यापन के विशिष्ट क्षेत्र रहे हैं। बाल विकास के सम्बन्ध में माता-पिता की भूमिका के बारे में भी अलग से अध्ययन हुआ है।

किन्तु उपरोक्त अध्ययन एवं विचारणा एक छोटे समुदाय तक ही सीमित रहे हैं और उनकी अवधारणाएं एवं प्रतिपादन केवल विद्वत् समाज अथवा शिक्षा के क्षेत्र में औपचारिक रूप से कार्यरत व्यक्तियों के विचारों एवं कार्यों को ही प्रभावित कर सके हैं।

इसके अलावा अधिकांश अध्ययन पश्चिम की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में हुए हैं। यह ठीक है मनोविज्ञान काल एवं देश की सीमाओं से परे सार्वभौम विज्ञान है किन्तु मानव सम्बन्ध अवश्य ही संस्कृति विशेष के मूल्यों एवं परम्पराओं पर आधारित होते हैं। ऐसी स्थिति में परिवार में माता-पिता का बच्चों के साथ व्यवहार अवश्य ही काल एवं देश निरपेक्ष नहीं हो सकता।

एक बात और है। आजकल इस विचार को प्रमुखता से सामने लाया जा रहा है कि पुरुष प्रधान समाज में समाज के एक बड़े वर्ग, नारी वर्ग, के साथ न्याय नहीं हो पाता है एवं आवश्यकता है कि समाज में इस पुरुष की प्रधानता के तत्व को समाप्त किया जाय। क्या यह भी सच नहीं कि परिवार एवं समाज दोनों ही इस प्रकार चलते हैं जैसे केवल वयस्कों का ही अस्तित्व हो और बालकों का कोई अस्तित्व ही न हो। हमारे सभी व्यवहार मानो बालक के अस्तित्व को ही नकारते हों। यह और भी आश्चर्यजनक लगता है जब हम यह विचार करते हैं कि बालकों के रूप में हम सभी वयस्क उन्हीं कटु अनुभवों से गुजर चुके हैं जिनसे कि बालकों को गुजरना पड़ता है।

आज आवश्यकता है कि प्रत्येक व्यक्ति को बाल-विकास के सम्बन्ध में माता-पिता के दायित्व के बारे में शिक्षित किया जाय। यह शिक्षण बौद्धिक विचारणा के उच्च स्तर पर नहीं किन्तु स्थूल व्यवहार के स्तर पर बोधगम्य होना चाहिए जिससे कि यह न केवल सहज स्वीकार्य ही हो बल्कि आसानी से ग्रहण भी किया जा सके।

भारत में विदेशी शासन के अच्छे और बुरे प्रभावों के बारे में विवाद चलता रहता है किन्तु अवश्य ही लम्बे विदेशी शासन का यह तो प्रभाव हुआ ही है कि हमने एक राष्ट्र के रूप में अपनी अस्मिता खो दी। हमारा अपना सब कुछ हमें क्षुद्र लगने लगा और पश्चिम का सभी कुछ श्रेष्ठ। यदि हमारी अपनी कोई चीज हमें अच्छी लगी भी तो तब ही जबकि वह पश्चिम से अनुमोदित हुई। बाल शिक्षण के बारे में पश्चिम में बहुत विचार एवं कार्य हुआ है और वह सब अवश्य ही महत्वपूर्ण है। उसका अध्ययन एवं विवेचन अवश्य ही उपयोगी एवं आवश्यक है। लेकिन हमारे अपने देश में भी इस क्षेत्र में बहुत कुछ किया गया है। यह हमारी मानसिक दासता का ही परिणाम है कि जबकि हम पश्चिम के विचारों से भलीभाँति अवगत हैं हमारे अपने देश में हुए विचार एवं कार्यों से हम पूरी तरह अनभिज्ञ हैं।

गिजुभाई उन विचारकों में से हैं जिन्होंने बाल-शिक्षण एवं बाल-मनोविज्ञान के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान किया है। उनका रचित साहित्य गुजराती में है और उससे बहुत कम लोगों का परिचय है।

प्रस्तुत पुस्तक में गिजुभाई ने माता-पिता के बच्चों के प्रति दायित्व के बारे में जीवन के उपाख्यानों के आधार पर कुछ सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं। गिजुभाई का तरीका उपदेशात्मक नहीं है। वे उपदेश देने के ढंग पर यह नहीं कहते कि माता-पिता को ऐसा करना चाहिए, ऐसा नहीं करना चाहिए। वे अपने स्वयं के अनुभव में घटित घटनाओं का वर्णन करते हैं, उनका विश्लेषण करते हैं और अपने विश्लेषण के आधार पर निष्कर्ष निकालते हैं कि क्या नहीं

होना चाहिए था और क्या होना चाहिए था। इस सम्बन्ध में उन्होंने अपनी दृष्टि किसी शास्त्रज्ञ की नहीं एक प्रेमल माता-पिता की ही रखी है। इस दृष्टि को उन्होंने बहुत ही सुन्दर नाम दिया है 'अमृत दृष्टि'। वे कहते हैं, 'यह अमृत दृष्टि वृद्धि का, खिलने का, विकास का अनिवार्य नियम है। यह नियम जहाँ प्रवर्तित नहीं होता वहाँ खिलना बंद हो जाता है, संकुचन होता है, शुष्कता आती है और सड़ान शुरू हो जाती है।' वे फिर कहते है, 'बालक अपने घरों में लगाये हुए फूल हैं। वे हमारे बनाये वातावरण एवं हमारे पोषण में पुष्पित हो रहे हैं। वे हमारी नजर के नीचे विकसित हो रहे हैं। हमारी दृष्टि जैसी मीठी अथवा कड़वी होगी वैसे ही बालक होंगे। माली अपने उपवन में असावधानीपूर्वक विचरण करे, फूल देखकर खुश न हो बल्कि यह समझे कि ठीक है फूल उग ही जाते हैं तो उसका उपवन फूलेगा फलेगा नहीं।' वे यह भी कहते हैं, 'यदि हम उनके प्रति अभिमुख न होते हुए अपने में ही सीमित रहेंगे तो बालक कुम्हलाऐंगे, उन्हें हमारी अमृत दृष्टि का पोषण नहीं मिलेगा।'

गिजुभाई की इस कृति का व्यापक प्रचार होना चाहिए। श्री काशिनाथजी त्रिवेदी ने गिजुभाई के साहित्य के अनुवाद एवं प्रसार में बड़ा योगदान दिया है और अपने इस कार्य के रूप अंग के में इस पुस्तक का अनुवाद किया है। इस कृति को सुलभ बनाने के लिये श्री रामनरेश सोनी ने जिस निष्ठा से कार्य किया है वह श्लाघनीय है। मोण्टेसोरी बाल शिक्षण समिति, राजलदेसर एवं श्री कुन्दन बैद ने इस पुस्तक के प्रकाशन का दायित्व अपने पर लिया है—हमें इन सबका आभारी होना चाहिए।

बनस्थली विद्यापीठ —दिवाकर शास्त्री
राजस्थान, 304 022

प्रस्तावना

माँ-बाप बनना कठिन है।

1-4-1935, गिजुभाई
भावनगर

मेरे साथ क्यों नहीं ?

बातें करते-करते गजाननजी ने पूछा : 'भैया रमणलाल ! तुम्हारे ये बच्चे तुम्हारे साथ पटापट बातें करते हैं। इनको तुमसे जो भी कुछ पूछना होता है, सो ये बेझिझक पूछते हैं। ये तुम्हारे आस-पास कूदते हैं और नाचते हैं। ये तुमको अपनी यह चीज दिखाते हैं, और वह चीज़ दिखाते हैं। लेकिन मेरे बच्चे तो ऐसा कुछ भी नहीं करते। वे न मेरे साथ खुलकर बोलते हैं, और न मुझ से कोई सवाल ही पूछते हैं। वे मुझ को कभी यह नहीं बताते कि वे क्या पढ़ रहे हैं, या क्या लिख रहे हैं, क्या खेल रहे हैं, या कहाँ जा रहे हैं ? भला, इसका कारण क्या है ?'

रमणलाल ने कहा : 'भैया, पूरी जान-पहचान और पूरे साथ-संगाथ के बिना तो सही कारण कैसे बताया जा सकता है। लेकिन जो कुछ मैं देखता हूँ और जानता हूँ, उसके आधार पर तुमसे कुछ बातें कहता हूँ। मुझको लगता है कि इसमें बच्चों का कोई कसूर नहीं है। अगर कोई कसूर है, तो वह तुम्हारा है। कह सकते हैं कि यह कसूर भी एक तरह से नासमझी या नादानी के कारण है।

गजाननजी ने पूछा : 'कैसी नासमझी ? ज़रा खोलकर कहो।'

रमणलाल बोले : 'सुनो, तुमने शुरू से ही अपने बच्चों के साथ घुलने-मिलने की अपनी आदत बनाई नहीं। तुम बड़े अफसर जो ठहरे ! तुम्हारे नौकर-चाकर वगैरा भी तुमसे दूर-ही-दूर बने रहते हैं, तुम्हारे मातहत अफसर भी तो तुम से दूर ही रहते हैं। तुम्हारा स्वभाव भी अफसरशाही का है। गम्भीर मुँह बनाकर बैठे रहने का है। लेकिन बच्चों को ऐसा स्वभाव अच्छा नहीं लगता। वे ऐसे आदमी से दूर रहना ही पसन्द करते हैं।'

गजाननजी ने कहा : 'लेकिन वैसे तो मैं उनके साथ बातचीत करता हूँ। उनसे उनके विद्यालय की और खेल-कूद की बातें भी पूछता हूँ। जब कभी वे आपस में झगड़ते हैं, तो मैं बीच में पड़कर उनके झगड़े भी निपटा देता हूँ। ऐसा भी नहीं है कि मैं हमेशा अकड़कर ही बैठा रहता होऊँ। मैं वैसे तो उनका पिता हूँ और वे मेरे बालक हैं।'

रमणलाल बोले : 'लेकिन भैया, यह तो सच है न कि तुम उनसे पूछते-भर हो। तुम उनके न्यायाधीश-भर बन कर रहते हो? तुम उनके मित्र तो नहीं न बन पाते हो?

गजाननजी ने पूछा : 'भाई! तुम कहना क्या चाहते हो? मित्र बनने का मतलब क्या है? बाप अपने बच्चों का मित्र कैसे बन सकता है?'

रमणलाल ने कहा : 'भाई गजाननजी, ख़ूबी तो इसी में है। इसी में बच्चों के दिलों की चाबी पड़ी है। यह चाबी जब हाथ में आ जाती है, तो सब तरह के ताले खुलने लगते हैं। फिर तो बालक हमारे आस-पास घूमना शुरू कर देते हैं। वे हम से तरह-तरह के सवाल पूछते हैं। वे हमारे सामने नाचते-कूदते हैं, और हम उनसे जो भी काम करवाना चाहते हैं, उसको वे तुरत-फुरत और हँसते-खेलते कर देते हैं।'

गजाननजी ने पूछा : 'लेकिन अपने बालकों का मित्र कैसे बना जाए?'

रमणलाल बोले : 'भैया, ज़रा मेरी बात सुनो। बच्चों के कामों में दिलचस्पी दिखाकर हम उनके मित्र बन सकते हैं। उनसे यह पूछ कर कि वे अपनी कक्षा में किस नम्बर से पास हुए, हम उनके मित्र नहीं बन पाते। लेकिन जब हम उनसे पूछते हैं कि उनको अपना विद्यालय कैसा लगता है? उनके शिक्षक कौन हैं, और वे कैसे हैं? शिक्षकों के बारे में उनके अपने विचार क्या हैं? और, वे अपने शिक्षकों का मजाक किस तरह उड़ते हैं? जब हम इस तरह बातें उनसे पूछने लगते हैं, तो वे हमारे नज़दीक आने लगते हैं। अपने विद्यालय के बारे में और वहाँ होने वाले कामों के बारे में बालक हम से कुछ-न-कुछ कहना तो चाहते ही हैं। पर जब कोई उनको सुनने वाला नहीं मिलता, तो वे अनमने होकर पड़े रहते हैं। लेकिन जब हम उनकी बातें सुनने

में अपनी दिलचस्पी दिखाते हैं, तो वे भी दिल खोलकर हमको अपने मन की बातें कहने लगते हैं।

गजाननजी ने कहा : 'भैया, आप ठीक कह रहे हैं। आगे मैं भी ऐसा ही करके देखूंगा। लेकिन क्या इस एक ही बात से बालकों का मित्र बना जा सकता है?'

रमणलाल बोले : 'नहीं, यह तो मैंने एक उदाहरण-भर दिया। बालकों के जीवन में छोटी-बड़ी कई बातें होती रहती हैं। इन सबके बारे में हम उनसे तरह-तरह की बातें कर सकते हैं। बालकों की भी अपनी कुछ रुचि और अरुचि तो होती ही है। कुछ बातें उनको शोभा देती हैं, कुछ नहीं देती। कुछ उनको सुहाती हैं, कुछ नहीं सुहाती। कुछ उनको सुन्दर लगती हैं, कुछ नहीं लगती। ऐसा बहुत-कुछ होता रहता है। इन सबके बारे में उनकी अपनी राय भी होती है। उनकी अपनी पसन्द और नापसन्द के कारण भी होते हैं। अगर इन सब बातों को जानने में हम अपनी रुचि दिखाते हैं, उनके छोटे-बड़े सुख-दुःख में हम उनके प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट करते हैं, उनके छोटे-बड़े कामों की क़द्र करते रहते हैं, तो बालक भी हमको अपना मित्र मानने लगते हैं। तभी उनका दिल पुलकित होता है, और खुलता भी है।

गजाननजी ने कहा : 'भाई रमणलाल जो, तुम्हारी ये बातें मुझको ठीक लग रही हैं। लगता है कि इस विषय में तुम्हारा अनुभव काफ़ी गहरा है।

रमणलाल बोले : 'हाँ, गजाननजी, बात तो अनुभव की ही है। अभी-अभी के मेरे अपने कुछ अनुभव मैं तुम को सुनाता हूँ। मेरा लड़का आजकल सिक्के और डाक-टिकट इकट्ठा कर रहा है। जैसे ही मुझ को इसका पता चला, मैं उसकी मदद करने लगा। अपने मित्रों को पत्र लिखकर मैंने उनके साथ उसकी जान-पहचान करवा दी। जब-जब भी मेरे पास नए डाक-टिकट आते हैं, मैं उनको उसके लिए सँभाल कर रख लेता हूँ। जब मैंने डाक-टिकट इकट्ठा करने की कई तरकीबें उसको समझाईं और सुझाईं, तो उसको बड़ी खुशी हुई। मेरी यह मदद उसको बहुत अच्छी लगी। उसके लिए नए जूते या

नई टोपी ला देने पर उसको जितनी खुशी होती है, उससे कहीं ज्यादा खुशी उसको तब होती है, जब मैं उसके लिए दो-चार नए डाक-टिकट ला देता हूँ। हम बड़ी दिलचस्पी के साथ इन टिकटों की और जिन देशों के ये टिकट होते हैं, उन देशों की बातें करते हैं, इस तरह की बातचीत से बच्चे का मन खिल उठता है। उस समय मुझको उसके असल स्वभाव का पता चलता है, और तभी वह मुझको अधिक पूज्य भाव से देखता है।'

गजाननजी बोले : 'भैया रमणलालजी! तुम भी तो ग़ज़ब करते हो! मुझको भी यह सब करना सीख लेना होगा। सचमुच मैं तो अफसर का अफसर ही बना रहा। पुतले की तरह अकड़कर बैठना और रौब दिखाना तो मुझको आता है, लेकिन अपने बच्चों का मित्र बनना नहीं आता। अब तो मुझको भी यह सब सीख लेना होगा।'

रमणलाल ने कहा : 'भाई गजाननजी! इसमें न आने लायक कोई बात है ही नहीं, और न इसमें कुछ सीखने लायक ही है। लेकिन ज़रूरी यह है कि इन बातों की तरफ हमारा ध्यान जाए। हमारे पड़ौस में एक त्रिवेणी बहन रहती हैं। बच्चों की मित्र बनने की कला वे बहुत अच्छी तरह जानती हैं। वैसे, त्रिवेणी बहन बच्चों के साथ कोई ऐसी-वैसी और हलकी-फुलकी बातें नहीं करती। पर बालकों की रुचि के विषयों को वे बहुत अच्छी तरह जानती हैं। वे स्वयं काफ़ी पढ़ी-लिखी हैं, और चार लोगों में उनकी खासी पूछ-परछ भी है। लेकिन जब वे बालकों के साथ बैठती हैं, तो वे उनको ज़रा भी भारी नहीं पड़तीं। उलटे, बच्चों को वे बहुत अच्छी और ऊँची लगती हैं। अपनी बातें वे बच्चों के बीच कुछ इस तरह शुरू करती हैं। 'सुनिए, आप सबको 'बड़े' अच्छे लगते हैं या नहीं? तो क्या कल हम 'बड़े' बनाएँ? दाल कौन पीसेंगे? हरा धनिया कौन तैयार करेंगे? तलने कौन बैठेंगे?' कभी कहेंगी : 'इस चूनरी में लगे गोटा-किनारी बहुत क़ीमती हैं न? जब मैं छोटी थी, तो नीले रंग की चूनरी पहना करती थी। उन दिनों खादी मिलती नहीं थी। इसलिए हम सब मिल में बने कपड़े पहनते थे। तुम्हारी यह चूनरी तो खादी की लगती है। सच है न?' फिर कभी कहेंगी : 'तुम को

अंधेरे में नींद आती है या नहीं? जब मैं छोटी थी, तो मुझको अंधेरे में डर लगा करता था। मैं नाहक डरा करती थी। एक दिन मेरे पिताजी ने मुझको अंधेरे में सुला दिया, और उस दिन मुझको डर नहीं लगा। बस, तब से मैं डरना भूल ही गई!

गजाननजी बोले : भई, तुम्हारी ये त्रिवेणी बहन तो बड़े मजे की बातें करती हैं। लगता है कि ये बालकों के स्वभाव को बखूबी जानती हैं।

रमणलाल ने कहा—'भैया गजानन जी! अगर हम भी इस तरह ध्यान देने लगें, तो धीरे-धीरे हम को भी ऐसी बातें सूझने लगेंगी। चूंकि ऐसे मामलों में हम अन्धे बने रहते हैं, इसलिए सब कुछ गुड़-गोबर हो जाता है।'

गजाननजी बोले : भैया रमणलाल! आज तो मुझको बहुत सी नई बातें जानने को मिली। इस दृष्टि से तो मैं अपने रमेश और अपनी रमा के साथ तरह तरह की बातें कर सकता हूँ। वे क्रिकेट खेलते है। सिनेमा देखते हैं। छोटी-छोटी कथा-कहानियाँ भी पढ़ते रहते हैं।

रमणलाल ने कहा : —'गजाननजी, बिलकुल ठीक। अब तुम्हारी निगाह सही मुक़ाम पर पहुँची है। इनमें ही अपने बालकों के साथ बात करने का बहुत मसाला है। इसमें खूबी यह है कि उनसे उनकी ही रुचि के विषयों की चर्चा करते-करते हम उनको कई नई-नई बातें इस तरह बता और समझा सकते हैं कि उनको पता तक न चले। इस प्रकार उपदेश से या हुक्म के ज़रिए जो बातें उनके गले नहीं उतर पातीं, इस तरह की बातों के ज़रिए वे इनमें से बहुत कुछ पा लेते हैं, और पचा भी लेते हैं।'

गजाननजी बोले : 'सच कहते हो, भैया, तुम सच ही कह रहे हो।'

रमणलाल ने कहा : अच्छी बात है, भाई गजाननजी! आगे जब कभी हम मिलेंगे, तो इसके बारे में और भी सोचेंगे और समझेंगे।'

गजाननजी उठते-उठते बोले : 'भैया रमणलालजी! तो अब मैं चलूं। नमस्कार!'

•

बाबूजी से कब मिला जा सकेगा ?

लक्ष्मीशंकर डॉक्टर थे। जोरों की प्रैक्टिस चल पड़ी थी। एक घड़ी की फुरसत नहीं मिलती थी। सबेरे जागते ही कोई-न-कोई उनको बुलाने आ ही जाता था। इसी कारण बालकों के जागने से पहले ही उनको नहा-धोकर और दूध पीकर बाहर जाने के लिए तैयार हो जाना पड़ता था।

एक बार घर से बाहर निकलते, तो दिन में 12,12-30 बजे मुश्किल से घर लौट पाते थे। बीमारों के देखते और उनकी बीमारी की जांच करते-करते वे सुबह दस बजे के लगभग जब अपने निजी दवाखाने में पहुँचते, तो वहाँ उनकी राह देखते हुए बैठे बीमार उकता उठते थे।

दस बजे से लेकर बारह बजे तक का समय कब, कैसे बीत जाता था, इसका उनको कोई पता तक न रहता था। ढेर सारा काम सामने खड़ा रहता था।

दिन में बारह, साढ़े बारह बजे के बाद वे घर लौटते। उनके लिए विशेष रूप से गरम-गरम रसोई की व्यवस्था रहती थी। घर के बच्चों को सुबह 11 बजे बाल-मन्दिर जाना होता था।

लक्ष्मीशंकर दिन में दो-ढाई घण्टे आराम करते। लेकिन चार बजे के बाद तो वे अपने घर में शायद ही कभी मिलते थे। फिर बीमारों को देखने के बुलावे शुरू हो जाते। बाद में शाम को 5 बजे से लेकर 6 बजे तक वे अपने दवाखाने के काम में डूब जाते।

लक्ष्मीशंकर को क्लब का बड़ा शौक था। वे बीमार को चाहे भूल जाएं, पर क्लब को कभी भूलते नहीं थे। ब्रिज और बिलियर्ड खेले बिना वे कभी रहते नहीं थे। खेल खेल में रोज रात के 9 तो बज ही जाते थे। लेकिन कभी-कभी 10 भी बज जाया करते थे। लक्ष्मीशंकर रात में सबके अन्त में और देर रात बीते भोजन किया करते थे। रात की रसोई भी उनके लिए ढक कर रखनी होती थी। छोटे बच्चों को नींद आने लगती, और बड़ों को भूख लग जाती, इसलिए घर में रात की रसोई जल्दी ही बन जाती थी।

रोज़ लक्ष्मीशंकर की यही दिनचर्या रहा करती थी।

लेकिन लक्ष्मीशंकर रविवार के दिन पूरी छुट्टी मनाते थे। उस दिन शाम को भी वे अपना दवाखाना बन्द रखते थे, और क्लब में भी नहीं जाते थे। उस दिन अकसर वे अपनी पत्नी और बच्चों को साथ लेकर कहीं घूमने निकल जाते थे, या घर में ही तरह-तरह के खेल खेला करते थे। अथवा अपना सारा समय मौज-मस्ती में बिताया करते थे।

घर में रमेश सबसे छोटा था। लक्ष्मीशंकर उसको बहुत चाहते थे। वे जब रात घर लौटते, तो रमेश उस समय सो रहा होता, और जब सुबह जल्दी घर से निकल जाते, तब भी वह तो सोता ही होता। इसलिए लक्ष्मीशंकर उसको हमेशा अपने हाथों सहलाया करते, उसको चूमते, और उसकी तोतली, मीठी, अटपटी बातें उसकी मां से सुन-सुनकर संतुष्ट हो लेते। दूसरे छोटे-बड़े बच्चों में से तो कोई सुबह जल्दी जाग जाते, और कोई रात देर से सोते। इसलिए उनको लक्ष्मीशंकर के साथ बात करने और हँसने-बोलने के मौके मिल जाते थे। लक्ष्मीशंकर स्वभाव से ही आनंदी और विनोदी थे। घर में पाँव रखते ही वे अपने दवाखाने को और प्रैक्टिस को बिलकुल भुला देते थे।

रविवार की शाम थी। घर की छत पर बैठे सब मौज मना रहे थे। नन्हा रमेश भी लक्ष्मीशंकर की गोद में बैठा था। तीन साल का हो चुका था। बहुत चालाक था, और बड़ा बातूनी भी था। रोज़ लड़-झगड़कर अपनी बड़ी बहन के साथ मोण्टेसरी बाल-मन्दिर जाया करता था, और बाल-मन्दिर के शिक्षकों का भी प्रिय बन गया था।

उस दिन खेलते-खेलते और अपने बाबूजी की दाढ़ी पर हाथ घुमाते-घुमाते रमेश ने लक्ष्मीशंकर से पूछा : 'बाबूजी ! आप कभी-कभी ही घर क्यों

आते हैं ? सोमवार को हमारा बाल-मन्दिर बन्द रहता है। आप उस दिन सवेरे ही आ जाया करें, तो कितना अच्छा हो ! दिन भर बड़ा मजा रहे।'

लक्ष्मीशंकर बोले : 'अरे पगले ! मै तो रोज़ यहीं रहता हूँ। रोज़ ही रहता हूँ।'

रमेश ने कहा : 'नहीं, नहीं, झूठी बात। आप झूठ बोल रहे हैं। आप यहाँ रहते, तो मै आप को देखता न ?'

लक्ष्मीशंकर बोले : 'रोज़ सुबह जब तुम सो रहे होते हो, मुझको अपने काम के लिए बाहर जाना पड़ता है।'

रमेश : 'इतनी जल्दी जाना पड़ता है ?'

लक्ष्मीशंकर 'हाँ, हाँ। बीमारों को देखने के लिए जल्दी ही जाना होता है।'

रमेश : 'माना, लेकिन जब आप यहाँ रहते हैं, तो वापस घर कब आते हैं ?'

लक्ष्मीशंकर : 'दोपहर में भोजन के लिए आता हूँ, किन्तु उस समय तुम सब अपने विद्यालयों में होते हो।'

रमेश ने माँ की तरफ देखकर पूछा : 'माँ, बाबूजी सच कह रहे हैं ?' माँ कुछ बोली नहीं।

रमेश : 'पता नहीं, क्या बात है ! किसी दिन बाल-मन्दिर न जाऊँ, तो पता चल जाए।'

लक्ष्मीशंकर : 'लेकिन सोमवार को तो तुम्हारी छुट्टी रहती ही है। उस दिन दोपहर को तो मैं घर पर ही रहता हूँ न ?'

रमेश : 'अब मुझको इसका पता लगाना होगा। पिछले सोमवार को तो हम सुबह से शाम तक मौसी के घर रहे थे, और उससे पहले के सोमवार को हमारा बाल-मन्दिर लगा था।'

बीच में माँ बोली : 'और उससे पहले के दो सोमवार आपको कहीं बाहर जाना पड़ा था। रमेश ठीक कह रहा है। लगभग डेढ़-दो महीनों से सोमवार के दिन दोपहर में आप सब कभी इकट्ठा हुए ही नहीं।'

लक्ष्मीशंकर ने अपनी भौंहे चढ़ाकर सिर हिलाया।

रमेश बोला : 'लेकिन आप तो रात में भी नहीं दिखाई पड़ते। चाचाजी, बड़े भैया, बड़ी बहन, हम सब रात में एक साथ ही भोजन करते हैं, लेकिन उस समय भी अपना नहीं रहते।'

माँ ने ताने-भरी आवाज़ में कहा : 'रमेश, तुम्हारे ये बाबूजी तो रोज रात को क्लब जाते हैं, और तुम्हारे सो जाने के बाद ही घर आते हैं, और कभी-कभी तो बहुत ही देर करके आते हैं।'

माँ को क्लब पसन्द नहीं था। प्रैक्टिस के सिलसिले में सारे दिन घर के बाहर रहने की बात तो समझ में आती थी, लेकिन बाद में देर रात तक क्लब में रहना उनको अच्छा नहीं लगता था। मौक़ा देखकर माँ ने तनिक ताना मारा।

लेकिन लक्ष्मीशंकर के लिए तो यह ताना ही काफ़ी था। या यों कहिए कि उनको तो इस ताने की भी ज़रूरत नहीं थी। रमेश का पहला प्रश्न सुनकर ही उन्होंने मन-ही-मन सोचना शुरू कर दिया था। उनकी आँखों के सामने सुबह से रात तक की अपनी सारी दिनचर्या खड़ी हो गई। एक बात स्पष्ट रूप से उनके ध्यान में आ गई। अपने जिन बालकों के लिए वे दिन-भर कमाते रहते हैं, उनसे पूरी तरह मिल भी नहीं पाते। जब रमेश सो रहा होता है, तब घर से बाहर जाना, और जब रात वह सो जाता है, तब घर वापिस आना। उन्होंने अनुभव किया कि सचमुच यह स्थिति बहुत ही शोचनीय और भयंकर है। इसके चलते तो मैं रमेश के उछलते-कूदते बचपन में आनन्द और रस का सिंचन कैसे कर सकता हूँ ? अपने प्यारे बच्चों के साथ खेलने, कूदने और उनके बीच रहकर आनन्द का अनुभव करने के अवसरों को तो में ख़ुद ही खोता रहता हूँ।

रमेश ने फिर अपने बाबूजी की दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए कहा : 'बाबूजी ! आप बोलते क्यों नहीं ? आप कोई अच्छी-सी मजेदार बात सुनाकर हम सबको हँसाइए। पता नहीं, फिर कितने दिनों के बाद आप दिखाई पड़ेंगे !'

रमेश की इस अन्तिम बात का तीर लक्ष्मीशंकर की छाती में अधिक गहरा पैठ गया। उसने उनके दिल को चीर डाला।

लक्ष्मीशंकर बोले: 'सुनो रमेश! अगर मैं रोज शाम को घर आने लगूं और हम रोज ही हँसें, खेलें, तो तुमको कैसा लगेगा?'

सुनकर रमेश के गाल सुर्ख हो उठे। वह अपने बाबूजी के गले लिपट गया और बोला: 'बाबूजी! तब तो मैं रोज ही आपको एक-एक टिकिया दिया करूँगा।'

सुनकर सब एक साथ ठठा कर हँस पड़े।

भावना से भरा वातावरण इस हँसी से थोड़ा हलका हो गया। लक्ष्मीशंकर ने कहा: 'सुनो रमेश! आज से मैं क्लब नहीं जाऊँगा। दवाखाने से सीधा घर ही आया करूँगा। बाद में हम सब शाम को घूमने निकला करेंगे। बोलो, और क्या चाहते हो? रमेश को बहुत अच्छा लगा। रमेश की माँ का मन ही हलका हो उठा।

उस दिन डॉक्टर लक्ष्मीशंकर ने क्लब में जाना बन्द कर दिया। यही नहीं, बल्कि अपनी प्रैक्टिस को बहुत बढ़ाते रहने की बात को भी अपने मन से निकाल दिया, और घर में रहकर अपने बाल-बच्चों के साथ हँसी-खुशी का जीवन बिताते रहने की नई दिशा पकड़ली।

●

आधा दिन बिगड़ गया!

किसी त्योंहार का दिन था। पर आज ठीक याद नहीं आ रहा कि कौनसा त्योंहार था।

त्योंहार के दिन से पहले की रात को मणिलाल के घर में बड़ा उत्साह रहा। बच्चे खुशी से उछलते-कूदते हुए कह रहे थे: 'आहा! कल बड़ा मजा आएगा!' मणिलाल और रेवा बहन सारी व्यवस्था के बारे में सोच रहे थे।

मणिलाल मेरे पड़ोसी हैं, और एक हिसाब से मेरे मित्र भी हैं।

सवेरा होने पर मणिलाल गाँव में साग-सब्जी खरीदने चले गए। रेवा बहन जागीं, और वे बच्चों को झट-पट नहलाने-धुलाने लगीं। उस दिन रेवा बहन को ढेरों काम निपटाने थे।

पड़ोसिन ने आकर कहा: 'रेवा बहन! ज़रा मेरे घर चलिए। मेरे भानजे का पेट दुख रहा है। आप उसको देख लीजिए।'

साँप—छछुंदर की-सी हालत हो गई। जाती हैं; तो समय खर्च होता है। नहीं जाती हैं, तो पड़ोसिन को बुरा लगता है!

अपने लल्लू को नहला देने के बाद रेवा बहन भानजे को देख आईं। लौटते समय बड़बड़ाने लगीं'।: 'भला, इसमें मुझको दिखाना ही क्या था? जरा भी कुछ हुआ कि तुरन्त ही मुझ को बुलाने आ जाते हैं! हमारे भी अपने-कुछ काम होते हैं या नहीं? ये किसी वैद्य को क्यों नहीं बुला लेते?'

रेवा बहन मन-ही-मन झल्ला उठीं। इधर नहाने के बाद लल्लू अपने हाथों धुले कपड़े निकालकर उनको पहन रहा था। लल्लू ने सारी पेटी के सब कपड़ों को उलट-पलट डाला था।

रेवा बहन अपनी बेटी जमुना पर बरस पड़ी। बोली : 'जमुना ! तुम देख नहीं रही हो ! लल्लू ने पेटी के सारे कपड़े उलट-पुलट दिए हैं। लल्ल का बदन पोंछ दो, और सारे कपड़े फिर पेटी में जमा कर रख दो !'

लल्लू रोने लगा। जमुना ने अपना मुँह फुला लिया। वह बोली : 'भला, इसमें मैं क्या करूँ ? लल्लू की तो यही आदत रही है।'

रेवा बहन ने कहा : 'तो फिर कपड़े जिस तरह बिखरे पड़े हैं, उनको उसी तरह पड़े रहने दो। देखो, आज तुम किसी तरह की कोई गड़बड़ मत करो। अभी तुम्हारे पिताजी आएँगे, तो घर की हालत देखकर पूछेंगे : 'यह क्या गड़बड़ मचा रखी है ?'

जमुना अपना सिर नीचा करके भम-फम करती हुई काम करने लगी। रेवा बहन गुस्से में बड़बड़ाती रहीं।

रेवा बहन ने जगदीश को नहाने बुलाया। पर जगदीश पट्टी पर पहाड़े लिख रहा था। वह बोला : 'माँ ! बस, मैं आ ही रहा हूँ !'

रेवा बहन बोली : 'मैं यहां कब तक तुम्हारी बाट देखूं ? अभी तो मुझ को हलुआ बनाना है। साग-सब्ज़ी तो अभी आई ही नहीं है ! तुम जानते हो न कि आज भोजन के बाद हम सब को बगीचे में जाना है।' जगदीश ने कहा : 'लो···मैं आ गया !'

लेकिन तभी रेवा बहन ने जगदीश की पट्टी उठाकर फेंक दी ! पट्टी के टुकड़े-टुकड़े हो गए। जगदीश रोने लगा।

रेवा बहन ने गुस्से में कहा : 'अब रोते क्यों हो ? मैं तो तुमको कब से पुकार रही थी, पर तुम अपनी जगह से हिल ही नहीं रहे थे !'

इतने में बड़ा बेटा दीपक आ पहुँचा। रेवा बहन ने पूछा : 'दीपक ! तुम कहाँ चले गए थे ?'

दीपक बोला : 'माँ ! मैं रामजी भाई से कुछ कहने गया था कि वे आज शाम यहाँ आकर हमको अपने जादू के खेल दिखाएँ।'

रेवा बहन गरज कर बोली : 'इसकी अभी कौन जल्दी पड़ी थी ? यह काम तो दोपहर को भी हो सकता था।'

दीपक बोला : 'लेकिन माँ·········'

'चुप रहो ! तुम्हारे पैर घर में तो टिकते ही नहीं हैं !'

दीपक ने कहा : 'लेकिन माँ······'

रेवा बहन बोली : 'सुनो, अब भटपट ये सारे कपड़े समेट लो। चारों तरफ सब कुछ बिखरा पड़ा है, और तुम्हारी हालत यह है कि तुम अभी तक नहाए भी नहीं हो !'

दीपक का मन नाराज़ हो उठा। वह नाराज़ मन से काम करने लगा।

लल्लू रो रहा था। जमुना मुँह फुलाकर चावल बीन रही रही थी। दीपक का चेहरा तमतमाया हुआ था। रेवा बहन का सिर गरम हो उठा था।

घड़ी में सुबह के साढ़े दस बज चुके थे।

मणिलाल अभी तक लौटे नहीं थे। रेवा बहन अधीर बन कर बड़-बड़ा रही थी : 'कब साग आएगा, कब रवा आएगा। और कब सारी चीज़ें बनेंगी ? दो बजे तो हमको रुक्मिणी बहन के घर पहुँचना है ! इनकी आदत में तो कोई फरक पड़ता ही नहीं है ! कोई जान-पहचान के साथी कहीं मिल गए होंगे, और ये उन्हीं के साथ बैठ कर गप शप करने में लगे होंगे !'

इतने में जूतों की आवाज़ आई और मणिलाल ने हँसते-हँसाते पूछा : 'कहो, लल्लू, जमुना, जगदीश दीपक ! तुम सब तैयार हो रहे हो न ? बोलो, रसोई का काम कहाँ तक पहुँचा है ?'

रेवा बहन की भौंहें तन गईं। गुस्से-भरी आवाज़ में वे गरज उठीं : 'भला, ये सब तैयार कैसे हो पाते ? आपके ये जगदीश, लल्लू, जमुना और दीपक ! इनमें से किसी में कोई सलीका है ? कोई ढंग-घड़ा भी है ? और आप को तो और भी देर करके आना चाहिए था न ? भला, बिना रवे के मैं हलुआ कैसे बनाती ? क्या दिन में ग्यारह बजे साग-सब्ज़ी लाने का कोई समय होता है ?'

मणिलाल ने कहा : 'हम आज उस.......'

'अभी मुझको आपकी कोई भी बात सुननी नहीं है। आप पहले झटपट साग-सब्जी सँवार दीजिए कि मैं उसको चूल्हे पर चढा कर छौंक दूँ।'

मणिलाल धीर-गम्भीर बनकर साग-सब्ज़ी सँवारने लगे। तभी लल्लू ने आकर कहा : 'माँ, हम को डाँट-फटकार रही थी।' जमुना बोली : 'पिताजी ! माँ ने जगदीश की पट्टी फेंक कर फोड़ डाली।'

मणिलाल बोले। 'जो हुआ, सो हुआ आज तो हम में से किसी को न रोना है और न ग़ुस्सा ही करना है। आज हमारे घर उत्सव होने वाला है न ! अब तुम सब सुनो, और मैं तुमको जो भी काम करने को कहूँ, तुम करने लगो।'

रेवा बहन गरज उठी : 'हाँ, अब सब बड़ी समझदारी की बातें कह रहे हैं। यहाँ अब तक जो हुआ, आज जो हुआ, कोई उसको देखने तो आता ! देखो, अब यह लल्लू शिकायत कर रहा है कि माँ ने यह किया और वह किया। और जमुना तो जमुना ही ठहरी। बदसूरत और बदतमीज़ !'

सुनकर बच्चे सब सहम उठे।

जब मणिलाल ने साग सँवार दिया, तो रेवा बहन ने धम-धम की आवाज के साथ बरतनों को उठा-पटक कर साग छौंक दिया।

रेवा बहन का सिर तपा हुआ था। उनका मिजाज बेक़ाबू था।

रेवा बहन ने कहा : 'कोई इधर रसोई-घर में आना मत। मैं अकेले ही सब-कुछ कर लूँगी। मुझ को यहां आपकी (मणिलाल की) भी जरूरत नहीं है।'

सब घर में चुपचाप बैठे रहे।

बारह के बाद एक बजे के आस पास भोजन तैयार हुआ। रेवा बहन ने सारी तैयारी करके सबको भोजन के लिए बुलाया।

लल्लू, जमुना, जगदीश, दीपक सब नीचा सिर किए भोजन करने आए। मणिलाल भी चुपचाप आकर बैठ गए। भला आज रेवा बहन किनके साथ बोलें और किन को बोलने के लिए कहें !

सब ने गुमसुम बनकर जैसे-तैसे भोजन कर लिया। किसी के मन में कोई ख़ुशी नहीं थी। मणिलाल का मन तो जल-भुनकर खाक़ हो चुका था !

सब भोजन करके उठे। सब ने मीठा हलुआ खाया था, लेकिन कल रात की बातों में जो स्वाद रहा, वह आज के मीठे भोजन में गायब था। सब ने पान-बीड़े भी खाए, लेकिन कुछ ग़ुस्से में और कुछ अनमने ढंग से।

मणिलाल ने सोचा कि अब वे बिगड़ी बाजी को कुछ सुधार लें, तो अच्छा हो। लेकिन रेवा बहन का सिर तो अभी तपा हुआ ही था। उन्होंने भी थोड़ा भोजन किया, पर उसमें उनकी कोई रुचि नहीं रही।

इस तरह सब का आधा दिन बिगड़ गया !

•

एक सच्ची घटना

आखिर यह दवा तो निर्दोष निकली, और इससे रम्भा को कोई नुक़सान नहीं हुआ, लेकिन अगर शीशी में ज़हर ही होता, और अनेक उपचारों के बाद भी रम्भा मौत के मुंह में चली गई होती, अथवा किसी भयंकर बीमारी के चंगुल में फँसी होती तो सोचिए कि क्या होता ?

क्या उस दिन की वह असावधानी एक अपराध न मानी जाती ? अजी, इसमें मानने या न मानने का सवाल ही कहाँ उठता है ? यह तो एक अपराध ही माना जाएगा। क्यों कि इसमें कितना बड़ा संकट समाया हुआ था, इसका अन्दाज़ तो हमारी आधे घण्टे की हमारी उस परेशानी से लगता ही है।

यह लज्जा-जनक और अपराध-पूर्ण घटना यों घटी थी :

रम्भा को बुख़ार आ रहा था। मलेरिया था। रम्भा की माँ पुष्पा बहन ने रमानाथ से कहा : 'रम्भा तो आज भी बेचैन ही है। क्या आप उसको कुनैन की एक ख़ुराक दे देंगे ?' पुष्पा बहन हाल ही आए मासिक पत्र को खोलकर उसके पन्ने पलटने में लगी थीं। रमानाथ को जल्दी थी। नौकरी पर जाने का उनका समय हो रहा था। कुनैन की शीशी को वे जहाँ-तहाँ खोजने लगे। वे इस कमरे में, उस कमरे में, सोने के कमरे में, वाचनालय वाले कमरे में, सब कहीं झटपट चक्कर लगा आए, पर शीशी उनको कहीं मिली नहीं। रमानाथ बोले : 'सुनो, शीशी कहाँ रखी है ? मुझको तो मिल नहीं रही।

रसोई घर में जाते-जाते पुष्पा बहन ने कहा : 'आप एक बार फिर देख लीजिए। मैं इस समय काम में हूँ।'

रमानाथ अधीर हो उठे थे। उतावली में उन्होंने दूसरी बार सब जगह चक्कर लगाया। एक शीशी मिली। ज़बरदस्ती रम्भा का मुँह खुलवाकर उसको दवा पिला दी।

रम्भा बोली : 'अरे, आज तो यह दवा ज़रा भी कड़वी नहीं लगी। आज न तो सुपारी खानी पड़ेगी, और न पानी पीना पड़ेगा।'

सुनकर रमानाथ चौंके। बोले : 'अरे, तुम यह क्या कह रही हो ? क्या मैंने तुमको कुनैन नहीं पिलाई ? तो मैंने तुमको क्या पिला दिया ?'

रमानाथ गहरे सोच में डूब गए, और घबरा उठे।

पुष्पा बहन बोली : 'तो अब आप इसको अस्पताल ले जाइए। ऐसी भी क्या उतावली थी कि जो भी शीशी हाथ में आई, वही उठा ली ?'

जवाब में रमानाथ को खीझने की फ़ुरसत नहीं थी। वे तो सीधे अस्पताल पहुँचे। इधर पुष्पा बहन उनकी उतावली को कोसने लगी। और यह सोचकर रोने लगी कि हे राम ! अब मेरी रम्भा का क्या होगा ?

'कहिए, रमानाथजी ! आज आप इस तरह हाँफते-दौड़ते क्यों चले आ रहे हैं ?'

'जी' ज़रा आप इस शीशी को देखिए। इसमें कौनसी दवा है ? गलती से दूसरी दवा के बदले यह दवा दे दी गई है।

डॉक्टर ने पूछा : 'किसने दी है ?'

रमानाथ बोले : 'जी मैंने अपने हाथों दी है।'

डॉक्टर ने कहा : 'अभी इसकी बात छोड़िए, पहले बीमार को यहाँ फ़ौरन ले आइए। दवा को देख कर क्या करना है ? बीमार की हालत देखनी होगी।'

रमानाथ उल्टे पैरों दौड़ पड़े। पानी बरस रहा था। फिर भी दौड़ते-दौड़ते घर पहुँचे, और बीमार को लेकर दौड़ने ही दौड़ने फिर डॉक्टर के पास आए। मन-ही-मन सोच रहे थे कि पता नहीं, क्या हुआ है, और क्या होने वाला है !

डॉक्टर ने रम्भा की जाँच शुरू की। आँखें देखीं, पेट देखा, हाथ देखे, नाखून देखे, सब कुछ देखा, तेजाब डालकर दवा की जाँच कर ली। रंग देखा। स्वाद देखा। सब कुछ देख लिया।

डॉक्टर बोले : 'ठीक पता नहीं चल रहा है कि यह दवा क्या है। लेकिन यह ज़हर तो लगती नहीं है। बीमार पर इसका कोई बुरा असर नहीं हुआ है।

रमानाथ की चिन्ता दूर हुई। उनके चेहरे पर थोड़ी चमक आ गई। डॉक्टर ने कहा : 'सुनिए, रमानाथ जी ! जो होना था ! सो तो हो गया। लेकिन आपके समान शिक्षित साथी को मैं उलाहना भी क्या दूँ ? क्या आप दवा की शीशी पर बीमार का नाम भी नहीं लिख सकते ? आप तो समझदार हैं। पढ़ते लिखते हैं। भाषण देते हैं, लेख लिखते हैं। क्या यह मामूली-सा काम आप नहीं कर सकते ? पुष्पा बहन भी पढ़ी-लिखी हैं। क्या वे भी इतना काम नहीं कर सकतीं ? ग़नीमत है कि कोई गड़बड़ नहीं हुई। किन्तु ऐसी स्थिति में तो मौत भी हो सकती है, और बालक भी हाथ से जा सकता है !'

रमानाथ लज्जित हो उठे। डॉक्टर ठीक ही कह रहे थे।

इतना ज्यादा काम था ही क्या ?

बुखार के कारण चन्दन बिछौने में पड़ी छटपटा रही थी। बुखार 105 डिग्री तक पहुँच चुका है, सुनकर चन्दन की माँ फिकर के मारे उठ खड़ी हुई। चपरासी शंकरभाई बरफ लाने के लिए दौड़े-दौड़े बाजार गए। जीवन भाई बहुत पहले ही डॉक्टर को बुलाने जा चुके थे।

चन्दन का सिर दबाते-दबाते मैं मन-ही-मन गुनगुनाया : 'सारी कोशिशों के बाद भी चन्दन का बुखार तो जाता ही नहीं है। दो-चार दिन बीते न बीते कि फिर आ ही जाता है। दवा तो लम्बे समय से चल रही है, पर उससे कोई आराम नहीं हो रहा।

चन्दन बहुत घबरा रही थी। हाथ से अपना सिर पीट रही थी। सिर बहुत ज़ोरों से दुख रहा था। चन्दन की माँ ने कहा : 'क्या इस घर में कोई इसकी फिकर रखने वाला है ? इसको तो रोज़ दवाखाने ले जाना चाहिए। एक डाक्टर की दवा से आराम न हो, तो दूसरे डॉक्टर को दिखाना चाहिए। यहाँ काम न बने, तो कहीं दूसरी जगह ले जाना चाहिए। पर किसी को चन्दन की कोई चिन्ता तो है ही नहीं।

चन्दन के लिए मेरे मन में दुःख तो था ही। उसकी माँ के इन शब्दों ने उस दुःख को और बढ़ा दिया। चन्दन बीमार थी ही। माँ के इन शब्दों ने उसकी बीमारी और परेशानी को कुछ बढ़ा देने के अलावा और क्या किया होगा ?

बर्फ आ गई। मैंने उसे चन्दन के माथे पर रखा। चन्दन को कुछ आराम-सा लगने लगा। बुखार धीरे-धीरे कम हो रहा था।

इसी बीच डॉक्टर काका आ पहुँचे।

'क्या चन्दन को फिर बुखार आ गया ? इस समय कितना है।'

'आप इसका बुख़ार उतारते ही कहाँ हैं ? अभी तो साढ़े तीन है!'

चन्दन की माँ डॉक्टर पर सहसा बरस पड़ी। वे बोली : 'आपको चन्दन का इलाज करना ही कहाँ है ? आप तो दवा के नाम पर इसको पानी-भर पिलाते रहते हैं। आप इसको ऐसी कोई दवा क्यों नहीं देते कि इसे फिर बुख़ार कभी आए ही नहीं ?'

डॉक्टर के साथ हमारा पुराना सम्बन्ध था। डॉक्टर ख़ुद भी बहुत समझदार थे। सुनी-अनसुनी करके उन्होंने कहा : 'चन्दन के लिए आज जो दवा आई है, वह कहाँ है ? आज इसने दवा की कितनी ख़ुराकें ली हैं ?'

मैं शीशी लाने के लिए उठा। लेकिन इसी बीच चन्दन की माँ ने कहा : इसने दवा पी ही कहाँ है ? यह तो लड़की ही ऐसी है कि दवा पीते समय बहुत नखरे करती है। दवा जितनी आई थी, उतनी ही मौजूद है। इसने तो दवा की एक भी बूंद पी नहीं है।

सचमुच चन्दन ने दवा पी ही नहीं थी।

डॉक्टर ने चिढ़कर कहा : 'भला, ऐसी हालत में इसका बुख़ार कैसे उतरता ? आज की दवा तो बुख़ार को रोकने की ही दवा थी, लेकिन चन्दन ने तो दवा पी ही नहीं ! इसको दवा तो पिलानी थी न ?'

चन्दन की माँ भड़क उठीं। बोली : 'इस घर में दवा पिलाने वाले हैं कौन ? भला, मै इस घर का काम-काज करूँ, रसोई बनाऊँ, छोटे बच्चों को नहलाऊँ-धुलाऊँ या इसको दवा पिलाऊँ ? मैं तो अब बहुत दिक़ आ गई हूँ। चन्दन ने तो अपना मुँह फेर लिया है। उनको दवा पीनी नहीं है, और बार-बार बीमार पड़ना है।'

डॉक्टर ने कहा : 'आइए, हम ज़रा बाहर बैठें। यहाँ चन्दन को तकलीफ होगी। मैं इसके लिए यह दवा लाया हूँ। दवा उसको पिला दीजिए। बुख़ार अभी उतर जाएगा।'

चन्दन की माँ अपना मुँह फुलाकर चन्दन के पास जा बैठी, और डॉक्टर के साथ मैं बाहर आया। डॉक्टर ने कहा : 'भले आदमी चन्दन की माँ तो जैसी है वैसी हैं, लेकिन आप ऐसे कैसे हैं कि दवा पिलाने में भी आलस्य करते हैं ? बच्चे अपनी राज़ी-खुशी से दवा पीते कब हैं ?'

अपना बचाव करने की कोशिश करते हुए मैंने कहा : 'लेकिन डॉक्टर साहब मैं तो अपने काम में लगा हुआ था।'

खीझ-भरी आवाज़ में डॉक्टर ने मित्रता-पूर्वक कहा : 'भैया, आप ऐसे कौन से काम में लगे हुए थे ? दिन में तीन बार ही दवा पिलानी थी। इसमें आपके कितने घण्टे खर्च होने वाले थे ? और आपका कितना काम पिछड़ने वाला था ? असल बात तो यह है कि दवा पिलाने में आपकी कोई रुचि थी ही नहीं। आपके मन में आलस्य भरा था। जिस पर आप यह कह रहे हैं कि डॉक्टर दवा नहीं दे रहे हैं। अच्छी दवा नहीं दे रहे हैं। इलाज के लिए कहीं और ले जाना चाहिए ! अपना दोष दूसरों पर मढ़ने की आपकी यह कैसी रीति-नीति है ? आप सब तो समझदार हैं, फिर भला, आपकी यह ऐसी कैसी कुटेव ?

सुनकर मैं तो सन्न ही रह गया ! कुछ कह ही नहीं पया। डॉक्टर मेरी शरमिन्दगी को पहचान गए। उन्होंने हमको कुछ सूचनाएँ दीं, और 'नमस्कार' कह कर वे अपने घर की तरफ चल दिए।

चन्दन का सिर दबाते-दबाते मैं मन-ही-मन सोचने लगा। मैं बार-बार अपने मन से पूछने लगा : 'आखिर मैं ऐसा किन कामों में लगा हुआ था। सुबह उठकर अखबार पढ़ा। क्या यह कोई बहुत बड़ा काम हुआ ? अखबार पढ़ने के बाद हजामत बनाई, और चाय पी। क्या यह कोई बहुत बड़ा काम कहा जाएगा ? चाय पीने के बाद डाक देखी। यह कौनसा बड़ा काम हुआ। डाक देखने के तुरन्त बाद कुछ मित्र मिलने आ गए। उनके साथ लम्बी गपशप चली। क्या यह कोई बड़ा काम माना जाएगा ? यह सब होते-हवाते सुबह के ग्यारह बज गए, और नौ बजे दी जाने वाली दवा की पहली खुराक नहीं दी जा सकी। क्या यह किसी बड़े काम के कारण हुआ ? ग्यारह बजे भोजन किया। भोजन के बाद थोड़ा समय आराम में बीता। साढ़े बारह बजे उठा

और किताब के कुछ पन्ने पढ़े। इसी बीच दूसरी खुराक का समय बीत गया। इस इतने-से काम के कारण दूसरी बार की दवा नहीं दी जा सकी। चन्दन तो आखिर बच्ची ही ठहरी। भला, कड़वी कुनैन पीना किसको अच्छा लगता है ? वह खुद क्यों दवा को याद करती ? उसकी माँ को तो मैं जानता ही हूँ, वे आज डॉक्टर को कैसी खरी-खोटी सुना रही थीं ? तीसरी बार की दवा पिलाने का समय होने के पहले ही चन्दन को फिर बुखार आ गया, और सब दौड़-भाग में लग गए। डॉक्टर ने सच ही कहा था कि असल में अपराध तो मेरा ही है। बिना दवा दिए बीमारी को भगाने की बात करने का दोषी तो मैं ही हूँ। झूठ-मूठ के कामों में उलझ कर सब से पहले करने लायक काम को न करने का दोष तो मैंने ही किया है।

•

लेकिन वह मेरी सुनता ही कहाँ है ?

एक बार माँ-बाप दोनों ने एक साथ अपने बच्चों के बारे में शिकायत पेश की : 'बच्चे हमारी सुनते ही नहीं हैं।'

माँ बोली : 'ये मेरी नहीं सुनते।'

बाप ने कहा : 'हाँ, ये मेरी भी नहीं सुनते। अब इनका क्या किया जाए ?'

जवाब में मैंने दोनों से पूछा : 'आप दोनों से मेरा एक ही सवाल है। क्या आप दोनों आपस में एक-दूसरे की बात सुनते हैं ?'

सवाल सुनकर माँ-बाप दोनों खिसिया गए।

माँ बोली : 'मैं तो इनकी बात सुनती हूँ, लेकिन ये मेरी बात कहाँ सुनते हैं ?'

बाप ने कहा : 'मैं भी यही कहता हूँ, मैं तो इनकी बात सुनता हूँ, लेकिन ये मेरी बात कब सुनती हैं ?'

मैंने तुरन्त ही कहा : 'आपके बच्चे आपकी बात नहीं सुनते, वे आपकी आज्ञा का पालन नहीं करते, इसकी जड़ में आप दोनों का यही व्यवहार है !'

बालक हमारी आज्ञा का पालन नहीं करते, इसके अलग-अलग कारण होते हैं। इन कारणों में एक कारण यह भी होता है कि बालक देखा करते हैं कि घर में माता-पिता एक-दूसरे की बात सुनते और मानते नहीं हैं। बालक नन्हे होते हैं। हम बड़े उनके लिए आदर्श का काम करते हैं। हम उनके लिए दर्पण बनते हैं। अगर वे हमारा अनुकरण करते हैं, तो इसमें दोष किनका है ?

यदि स्त्री-पुरुष या पति-पत्नी हमेशा एक-दूसरे की न सुनें, न मानें, तो इस दुनिया का काम ही न चले। हम आपस में एक-दूसरे की बात मानते-सुनते हैं, इसी से तो यह दुनिया चलती रहती है। लेकिन यह भी सच है कि

अक्सर माँ-बाप एक-दूसरे से टकराते रहते हैं। उनकी यह टकराहट एक-दूसरे के अधिक निकट आने के लिए भी होती है, और एक-दूसरे का अधिक मजबूत सहारा पाने के लिए भी होती है। अक्सर एक-दूसरे के बारे में जानकारी की कमी या समझ का फेर भी आपस की टकराहट का निमित्त बन जाता है। वैसे, टकराहट स्वाभाविक है, लेकिन उससे बालकों को कोई नुकसान नहीं पहुँचना चाहिए।

बाल-शिक्षा का अथवा सत्य की उपासना का ऐसा कोई तत्त्व नहीं है कि माँ-बापों के सारे व्यवहारों की जानकारी बालकों को होनी ही चाहिए। कई बातें ऐसी होती हैं कि समय आने पर बालक उनको जान ही लेते हैं, माँ-बापों की आपस की टकराहट या कहा-सुनी उन तक ही रहनी चाहिए। उनकी ये बातें बालकों तक नहीं पहुँचनी चाहिए। कहने का मतलब यह है कि जल्दबाजी में अपने मतभेदों के कारण या दूसरे किसी भी कारण से माँ-बापों को अपने बालकों के देखते आपस में न तो लड़ना-झगड़ना चाहिए, और न एक-दूसरे का विरोध करना चाहिए। उनको एक-दूसरे का अपमान करके एक-दूसरे की आज्ञा का उल्लंघन भी नहीं करना चाहिए। क्योंकि माँ-बाप के मन में जागे झगड़ों के कारण तो आसमान में उठे बादलों की तरह कभी भी छँट जाते हैं, और अन्त में एक-दूसरे के बीच रहा निर्मल आकाश-सा प्रेम प्रकट होता है। किन्तु बालक तो अपने माता-पिता को उन बादलों की गड़गड़ाहट से और उसके कारण छाए अँधेरे से ही पहचानते हैं, और उसी हिसाब से वे उनको मापने-तौलते भी हैं। अक्सर इसके कारण हुई ग़लतफ़हमी की वजह से बालक अपने माँ-बाप के विरोधी बन जाते हैं, वे मन-ही-मन उनको धिक्कारने लगते हैं, और उनकी आज्ञा का अनादर भी करते हैं। माता-पिता अपने आपस के झगड़ों को अपने तक ही सीमित रखें, इसी में उनका और उनके बालकों का हित निहित है। यही उचित और आवश्यक भी है। इस तरह अपने बालकों को सँभालते-सँभालते एक स्थिति ऐसी भी आ सकती है कि जब वे अपने आपसी झगड़ों से सदा के लिए छुटकारा पा जाएँ। कहने का मतलब यह है कि बालकों के सामने तो माँ-बाप का अपना सच्चा प्रेमल स्वरूप ही आना चाहिए। उनका अपना जो शुद्ध, निर्मल आकाश है, वही प्रकट होना चाहिए—क्योंकि वही सत्य है, और वही शाश्वत भी है। बादल तो क्षणिक ही होते हैं। •

यह तो गँवार है, गँवार !

: १ :

'बेटे तुम खाना खाने के लिए उठोगे या नहीं ? यह खाना ठण्डा हुआ जा रहा है। मैं तुमको कब से पुकार रही हूँ। तुम उठते क्यों नहीं हो ?'

'अम्माजी ! बस, मैं उठ ही रहा हूँ। यह आखिरी गड्ढा और खोद लेता हूँ।'

'बेटे ! तुम्हारा गड्ढा जाए गड्ढे में ! मैं पूछती हूँ कि तुम अब खाने के लिए उठते हो या नहीं ? इस चौके में मैं कब तक बैठी रहूँ ?'

'अम्माजी ! बस, मुझको आया ही समझो। यह गड्ढा तो अब खुद ही चुका है।'

'बेटे ! तुम उठते हो या नहीं ? तुम न उठे, तो अपने इन रसोई वाले हाथों से ही मैं तुमको तड़ातड़ पीट डालूँगी। गँवार कहीं के ! पुकार-पुकार कर मेरी जीभ थक गई, पर एक तुम हो कि मेरी पुकार पर ध्यान देते ही नहीं हो !'

'अम्माजी ! बस, हाथ धोकर आ ही रहा हूँ।'

'हाय राम, अपने इस अभागे गँवार को मैं कैसे समझाऊँ ?'

❀ ❀ ❀

: २ :

'आज इस छगन को छड़ी से पीटिए।'

'आखिर बात क्या है ? सुनो छगन ! इधर आओ।'

'इसकी पिटाई तो होनी ही चाहिए। इसको दो छड़ी जोर से मारिए। बिना मार खाए यह मेरी सुनेगा ही नहीं।'

'लेकिन यह तो बताओ कि मामला क्या है ?'

'यह बिलकुल गँवार बन गया है।'

'अच्छा, पहले मेरे लिए पानी लाओ। मुझको प्यास लगी है। अपनी यह पगड़ी तो मुझे उतारने दो !'

'नहीं, पगड़ी बाद में उतारिए। पहले इस छगन की मरम्मत कीजिए। देखते नहीं हैं, कैसा गाय की तरह ग़रीब और भीगी बिल्ली की तरह सहम कर खड़ा है !'

'छगन ! कहो, तुमने क्या कर डाला ?'

'पिताजी ! मैंने तो कुछ भी नहीं किया। अपने संग्रह की कौड़ियाँ गाड़ने के लिए मैं उधर आँगन में एक गड्ढा खोद रहा था। तभी अम्माजी ने कहा : 'झट आ जाओ, और खाना खा लो। खाना ठण्डा हो रहा है।' मैं बोला : 'बस यह गड्ढा खोदकर आ ही रहा हूँ। इस पर अम्माजी गुस्सा हो उठीं !'

'तुमको ज़रा रुक जाना था। आखिर देर कितनी होती ?'

'भला, मैं रसोई घर में कब तक बैठी रहती ? आप इस गरमी में चूल्हे के पास बैठकर देखेंगे, तो आपको मेरी तकलीफ का पता चल सकेगा !'

'कुछ देर के लिए खाना ढँक कर रख देना था। यह अपने आप खा लेता।'

'पर खाना बिलकुल ठण्डा जो हो जाता !'

छगन ने कहा : 'लेकिन मुझको गरम खाना पसन्द ही कहाँ है ?'

'आप सुन रहे हैं न ? यह कैसी मुँहजोरी कर रहा है ? अब तो आप इसको चार छड़ी तड़ातड़ जमा ही दीजिए।'

: ३ :

माँ ने अपने बेटे की हाज़िरी में उसकी शिकायत न की होती, तो काम चल सकता था। अपने खिलाफ शिकायत और उलाहने सुनकर कौन बालक है,

जिसका दिल दुखता न हो ? कार्यालय से थक कर आए अपने बेटे के बाप से कुछ देर बाद शिकायत की होती, तो क्या वह बेहतर न होता ? जिसको हमने गँवार मान लिया है, क्या हमारा वह बेटा छड़ी की मार खा लेनेभर से चतुर बन जाएगा ? मां अपने बेटे के लिए खाना ढँक कर रसोईघर से बाहर आ जाती, तो क्या उससे उसका काम न बनता ? बाद में बेटे को अपने पास बैठाकर माँ उसको प्यार के साथ समझा सकती थीं कि 'बेटे ! अपना खाना तो सुबह-शाम समय पर ही निपट जाना चाहिए। कोई पहले खाए और कोई बाद में खाए या देर में आकर खाए, तो सारा दिन खाने की व्यवस्था में ही बीत जाता है, और दूसरे कामों के लिए समय ही नहीं बचता।

अंग्रेज़ी में एक कहावत है कि 'औंस-भर समझाइश सेर-भर मार के बराबर होती है।'

•

मैं इसका क्या उपाय करूँ ?

सुमति बहन ने लक्ष्मी बहन से कहा : 'बहन ! मैं इसका क्या उपाय करूँ ? यह जब भी पाटा बिछाती है, जोर से पटक कर ही बिछाती है। दस में से नौ बार तो बिना चूके ऐसा ही करती है। मैं तो अपनी इस सविता के कारण बहुत ही परेशान रहती हूँ।'

लक्ष्मी बहन ने पूछा : 'सुमति बहन ! क्या आपने कभी अपनी सविता को समझाकर कहा है कि वह बिना आवाज़ किए पाटा बिछाया करे ?'

सुमति बहन बोली। 'बहन, एक बार नहीं कह चुकी हूँ। जब-जब भी पटे की आवाज़ आई है, तब-तब मैंने इसको टोका है।'

'लेकिन बहन ! जब एकाध बार यह पाटा धीमे से बिछाती है, तो क्या उस समय आपने सविता को कभी यह कहा है कि बेटी, आज तो तुमने पाटा बिना आवाज़ किए ही बिछाया !'

'नहीं बहन ! ऐसी बात तो कभी कही नहीं। कहने की ज़रूरत भी क्या है ? कभी भूले-चूके पाटा धीरे से बिछा भी दिया, तो कौन बड़ी बात हो गई ?'

'सुनो बहन ! यही तुम से भूल हो रही है। अकेली तुम ही भूल नहीं कर रही हो, बल्कि हम सब भी ऐसी भूलें करते ही रहते हैं। जब बालकों से कोई गलती हो जाती है, तो हम बार-बार उनका ध्यान उसकी तरफ इस तरह खींचते रहते हैं कि वे मानने लगते हैं कि गलतियां तो उनसे होती ही रहेंगी, और कोई सही-सच्चा काम उनके किए हो ही नहीं पाएगा। जब बालक की मानसिक स्थिति ऐसी बन जाती है, तो वह ज्यादा से ज्यादा गलतियाँ करता रहता है, और ज्यादा उलाहने भी सुना करता है। सच तो यह है कि जिस तरह बालक ग़लतियाँ करते हैं, उसी तरह कई बार वे ग़लती नहीं भी करते हैं। अक्सर वे कई अच्छे काम भी करते रहते हैं, पर उनके ऐसे अच्छे कामों का कोई हिसाब हम रखते नहीं, और न उन कामों की तरफ कोई ध्यान ही देते हैं। उनको उनके दोष दिखाते रहने को तो हम बराबर तैयार रहते हैं, पर उनके गुण देखकर हम खुश नहीं होते, और उन गुणों की ओर उनका ध्यान खींचकर हम उनको गुणों के प्रेमी भी नहीं बनाते। यह तो सच है न कि सविता दस बार में से एक बार पाटा अच्छी तरह बिछाती है ? जब वह ऐसा करती है, तभी तुम उससे कहा करो, 'बेटी, सविता ! आज तो तुमने पाटा बहुत ही अच्छी तरह बिछाया है। अच्छा हो कि तुम रोज़ इसी तरह पाटा बिछाया करो।' सचमुच तुम्हारे मुँह से ऐसी बात सुनकर सविता खुश होगी, और उसका ध्यान अपने इस गुण की तरफ जाएगा। वह अपने इस गुण को बढ़ाते रहने का प्रयत्न करती रहेगी। परिणाम यह होगा कि रुचि और अनगढ़ता का स्थान सुरुचि और सुघड़ता ले लेगी। बालकों की अपनी जो अच्छाइयाँ हैं, यदि हम उनकी कद्र और तारीफ करते रहेंगे, तो उनकी अच्छाइयाँ बराबर बढ़ती रहेंगी। इसके विपरीत यदि हम उनकी कमजोरियों पर ही जोर देते रहेंगे, उन कमजोरियों के लिए उनको उलाहने भी दिया करेंगे, और उनकी इन कमज़ोरियों को दूर करने की सीधी कोशिश करेंगे, तो उनमें ये कमजोरियाँ मजबूत होती चलेंगी, समझिए कि जड़ जमाकर बैठ जाएँगी।'

सुमति बहन बोली : 'लक्ष्मी बहन ! आपकी ये सब बातें बराबर मेरे गले उतर रही हैं। अब मैं ऐसा ही करके देखूंगी। देखना होगा कि परिणाम क्या निकलता है !'

•

अभी मटका फोड़ देगा !

हमारे घर के सामने एक खवास का घर था। माँ-बेटा दोनों एक साथ रहते थे। माँ ग़ुस्सेबाज़ भी, और बेटा शराबी था। बेटा रात शराब पीकर आता। उसको देखकर माँ का ग़ुस्सा बढ़ जाता। बेटा पानी पीने के लिए मटके के पास पहुँचता। माँ सोचती कि शराब के नशे में बेटा मटका फोड़ देगा। माँ ख़ुद उसको न तो पानी देती, और न धीमे से समझा कर कहती कि 'भैया, पानी सँभालकर पीना।' उल्टे, वह तो कहती : 'लो, यह अभागा अब आ गया है ! यह अभी मटका फोड़ डालेगा गाली सुनकर लड़का तुरन्त ताव में आ जाता है, और एक धमाके के साथ मटका फोड़ डालता है। मटका फोड़ देने के बाद माँ यह नहीं कहती कि 'ख़ैर, जो हुआ सो हुआ। अब तुम सो जाओ। माँ तो अधिक ग़ुस्से में आकर कहती है, 'लो, अब तो यह मुआ काँच के बरतन भी फोड़ेगा। तुरन्त ही टाँड पर रखे काँच के सब बरतन नीचे आ गिरे और चूर-चूर हो गए ! इस पर माँ बोली, 'कहीं यह मुआ लकड़ी लेकर मुझको ही न मारने लगे ! 'और बुढ़िया पर तड़ातड़ लकड़ी बरसने लगी !

बालक शराबी नहीं होते हैं, लेकिन अक्सर माताओं की बोली, जिस माता की बात ऊपर कही गई है, उसके समान होती है। माँ के बोल ही बालक को ग़लत काम का रास्ता दिखाते हैं। जब बालक से एक ग़लती होती है, तो हम ही अपने दूसरे बोल से बालक को दूसरी ग़लती की दिशा में धकेल देते हैं। इस प्रकार हमारे ही कारण बालक ग़लती पर ग़लती करने की आदत वाला बनता जाता है।

हाथ में लकड़ी लेकर घूमते हुए बालक को देखकर माँ सहसा कहने लगती है : 'अरे यह अभी मटका या प्याला फोड़ डालेगा।' फिर कहती है : 'यह अभी अपने भाई को मारेगा।' माँ की बात सुनकर बालक मटका फोड़ने या भाई को मारने के लिए तैयार हो जाता है। पहले माँ ख़ुद ताव में आती है, और फिर माँ की बात सुनकर बालक भी ताव में आ जाता है।

'यह अभी रोएगा', 'यह अभी मचलेगा,' 'यह अभी ज़िद करेगा,' 'उठा लेने को कहेगा,' 'खाने की चीज़ माँगेगा,' ऐसे वाक्य बोल-बोलकर हम ही बालक को पहले से सुझा देते हैं कि उसको क्या करना है। हमारी बातें सुन-सुनकर बालक ताव में आ जाता है, और वैसे ही काम करते रहने की लत वाला बन जाता है। एक ग़लत काम के बाद दूसरा ग़लत काम न करने का रास्ता दिखाने के बदले हम उससे ऐसी बात कहते हैं कि जिसके कारण वह दूसरा ग़लत काम करने की ओर मुड़ता है। इसका परिणाम यह होता है कि बालक ग़लत रास्ते चल पड़ता है, और बुढ़िया के बेटे की तरह नुक़सान करने का या झगड़ा मचाने का रास्ता अपना लेता है।

माता-पिता को इस विषय में ज़रूर सोचना चाहिए। जो बात हम ख़ुद बोलते हैं, थोड़ी सावधानी के साथ हम उसको ख़ुद ही सुनेंगे, तो हमको बुढ़िया की और उसके बेटे की बात ज़रूर ही याद आएगी।

•

सुनते नहीं हो, तो क्या मरना चाहते हो ?

माँ रोज़ कहा करतीं : 'बेटे ! तुम मेरी सुनते नहीं हो, तो तुम किसी दिन मर जाओगे ।'

लेकिन लड़का तो उल्टी खोपड़ी का था । वह रोज़ नई-नई तरक़ीबें निकालता । नए सवाल खड़े करता । किसी से डरना तो वह जानता ही नहीं था । वह समूचे गांव को हैरान और परेशान करता रहता था ।

गांव से कुछ दूर एक तालाब था । माँ रोज़ कहतीं : 'बेटे ! तालाब पर मत जाना । अगर तुमने मेरी बात न सुनी, तो तालाब में रहने वाला मगर तुमको खा जाएगा । वहाँ एक बहुत बड़ा मगर रहता है ।'

लेकिन लड़का ऐसी बातों से डरने वाला था नहीं । जवाब में वह कहता : 'माँ ! चलो, तुम मुझ को दिखलाओ कि मगर कैसा है !'

लड़का सहसा बोला : 'माँ ! मुझको थोड़ा पानी पिला दो न !'

माँ ने कहा : 'ज़रा ठहरो । ऐसी कौन मुसीबत आ पड़ी है ?'

लड़का फिर बोला : 'माँ मुझको पानी पिला दो न !'

माँ ने कहा : 'पानी तुम अपने हाथों पी लो । क्या तुम्हारे हाथ-पैर टूट गए हैं ?'

इस पर लड़का बोला : 'तो माँ, सुनो ! मैं यह चला । तालाब पर जाकर वहीं पानी पी लूंगा ।'

लड़का चल दिया ।

माँ ने कहा : 'बेटे, ओ बेटे ! मेरी सुनो । लौट पड़ो । लौटो, लौटो ! तुम मेरी बात सुनते नहीं हो ।तुम बेमौत मर जाओगे ।'

लड़का तो मगर को देखना चाहता था । तालाब के किनारे पहुँच कर जैसे ही उसने पानी पीना शुरू किया, मगर ने अपना मुंह बाहर निकाला, और लड़के की टाँग पकड़ ली । लड़के की क्या ताक़त थी कि वह अपनी टाँग छुड़ा लेता ? मगर ने लड़के को निगल लिया । माँ दूर खड़ी-खड़ी देखती रही । भला, वह मगर के पास कैसे जाती ?

माँ तो रोने और बिलखने लगी । अड़ोस-पड़ोस के लोग इकट्ठा हो गए । सब कहने लगे : 'तुमने अपने लड़के को रोका क्यों नहीं ? वहाँ उसकी ऐसी क्या चीज़ गड़ी थी कि तुमने उसको वहां जाने दिया ?'

माँ बोली : 'अरे भैया ! अपनी तरफ से तो मैंने उसको बहुत मना किया । कहते-कहते मेरी तो जीभ सूखने लगी । लेकिन उसने मेरी एक न सुनी । जो अपने माँ-बाप की बात नहीं मानते, उनके ऐसे ही हाल होते हैं ।'

पड़ोसी कहने लगे : 'हाँ बहन ! आजकल के ये लड़के कुछ ऐसे ही हो गए हैं । ये अपने माँ-बाप की बात तो सुनते ही नहीं हैं । फिर इनकी ऐसी हालत न हो, तो और क्या हो ?'

लड़का मगर के पेट में पहुँचा । लेकिन वह कच्चा-पोचा तो था नहीं । वह तो अपनी कमर में छुरी रखकर गया था । छुरी से मगर का पेट चीर कर वह बाहर निकल आया, और दौड़ता-दौड़ता घर पहुँच कर माँ से कहने लगा : 'माँ ! तुम तो कहती थीं कि मैं तुम्हारी बात नहीं मानूंगा, तो मैं मर जाऊँगा !'

: २ :

अफ्रीका में प्रचलित एक कहानी है । कहानी बिलकुल झूठी है । लेकिन उसमें एक रहस्य है । हम अपने परिवारों के कुछ उदाहरण लें । लड़का कहता है : 'माँ ! मुझको इस निसैनी पर चढ़ना है ।' माँ कहती है : ' नहीं, मत चढ़ो ।' लड़का माँ की बात नहीं मानता, और निसैनी पर चढ़ने लगता है । माँ कहती : 'बेटे ! सुनो, तुम गिर पड़ोगे ।' लड़का निसैनी पर चढ़कर फिर नीचे उतर आता है, और अपनी माँ से कहता है : 'माँ ! तुम तो कहती थी, कि मैं गिर पड़ूंगा । लेकिन मैं गिरा तो नहीं !।

नन्हा-सा बालक पूछता है : 'मां ! मैं पटिया ले आऊँ ! दूध की बोतल ले आऊँ ! अमुक चीज ले आऊँ ? तमुक चीज ले आऊँ ?' मां कहती है : 'नहीं, मत लाओ। तुम्हारे हाथ से गिर पड़ेगी।' बालक कहता : 'नहीं, मैं तो लाऊंगा।' मां कहती है : 'बेटे ! तुम रहने दो। चीज तुम्हारे हाथ से गिर पड़ेगी, और तुम्हारे पैर में चोट लग जाएगी।'

'हां, और 'ना' का यह सिलसिला चलता रहता है, इसी बीच बालक अपनी सोची हुई चीज उठा कर ले आता है, और मां से कहता है। 'मां ! तुम तो कहती थीं कि मेरे पैर में चोट लग जाएगी। लेकिन देखो, मुझ को तो कोई चोट लगी नहीं !'

हमारे घरों में ऐसी घटनाएँ घटती ही रहती हैं। इधर माँ मना करती है। उधर बच्चा अपनी पसन्द का काम करना चाहता है। माँ अपनी मनाही का कारण बताती है। उधर बच्चा मां की बात को ग़लत साबित कर देता है। मां को लगता है कि बच्चा उसकी बात सुन नहीं रहा है। वह सिर-फिरा बन गया है। बच्चा सोचता है कि मां नाहक़ मना करती रहती हैं, और उसको ग़लत-सलत समझाती रहती हैं। माँ कहती हैं : 'यह हो जाएगा, वह हो जाएगा।' बच्चा साबित कर देता है कि वैसा कुछ होता नहीं है। इधर माँ बच्चे को काम करने से रोकना चाहती हैं। उधर बच्चा काम करके दिखा देता है, और माँ की बात को उलट देता है। इस तरह माँ को मना रहते करने की, और बच्चे को माँ की बात न मानने की आदत पड़ जाती है।

अपनी बात मनवाने का एक अजीब-सा शौक़ हमको होता है। इसके लिए हम बालक को डाँटते-डपटते रहते हैं, और उसको मारते-पीटते भी हैं। बीच-बीच में हम उसको लालच भी दिखाते रहते हैं। मां-बाप की बात न सुनने वाले बालक के ऐसे हालत होते हैं, और वैसे हालत होते हैं, इस बात को उसके गले उतारने के लिए बालक को मक्खी की और उसके बच्चे की कहानी सुनाई जाती है, और उस पर यह असर डाला जाता है कि उसको अपने बड़ों और बूढ़ों की बात माननी ही चाहिए। न मानने से उसको पाप लगता है। नदी उसको बहाकर ले जाती है, या वह खौलते हुए पानी के कड़ाह में गिर

कर मर जाता है, अथवा मगर उसको निगल जाता है लेकिन मां-बाप की ऐसी मनाहियों की परवाह न करके अपनी मरजी का काम करने वाला बालक तुरन्त ही समझ जाता है कि माँ-बाप की मनाही बिलकुल बनावटी है। कभी मां-बाप की कही बात सच भी निकलती है, तो ऐसे मामलों में बालक अपने अनुभव से यह समझ लेता है कि वह ठीक-से चल नहीं पाया, इसलिए गिर पड़ा। माँ-बाप के मना करने पर भी वह खेलने चला गया था, इसलिए उसको चोट लगी, ऐसी कोई बात असल में होती नहीं है। ऐसी स्थिति में कुछ बालक यह भी मानते हैं कि अपनी मां की बात न मानने से वह गिरा, या उसको चोट लगी। लेकिन बच्चों का यह विचार लम्बे समय तक टिक नहीं पाता। अगर टिकता है, तो बालक में कार्य-कारण को ग़लत रीति से जोड़ने की वृत्ति उत्पन्न हो जाती है। उसके मन में यह शक भर जाता है कि मां-बाप की बात न मानने से उसका कुछ-न-कुछ नुक़सान होता ही है। जहाँ मन में ऐसा शक या वहम पैदा हो जाता है, वहाँ बुद्धि का अंधेरा छा जाता है।

हमें अपने बालकों को ग़लत ढंग से समझाना नहीं चाहिए। ऐसा करके हम खुद ही उनके जीवन में अश्रद्धा और आज्ञापालकता का अभाव उत्पन्न कर देते हैं। जहाँ बालक की वास्तविक सुरक्षा के लिए उचित रोक लगाना बहुत ज़रूरी हो जाए, वहीं हम उसको रोकें, और रोकने के बाद जब तक बालक रोक के कारण को ठीक से समझ न ले, तब तक हम उसको सच्चे कारणों की जानकारी देते रहें, बिलकुल नन्हें बालकों को भी धीमे से समझाते हुए यदि हम उनको सही जानकारी देते हैं, तो वे उसको समझ लेते हैं।

लोक-शिक्षा का काम करने वाले हमारे कुल लोग बालकों को ऐसी कहानियां सुनाते हैं, जिनमें यह बताया जाता है कि बालक ने अपनी माँ की बात नहीं मानी, इसलिए वह मर गया ! अफ्रीका में लोक-शिक्षा का काम करने वाले अपनी ऐसी कहानियों के द्वारा मां को यह सिखावन देने-से लगते हैं कि इस तरह मनाही करके वह बालक को जहां-तहाँ जाने से रोके नहीं।

•

नहाने की मनाही

कुछ समय पहले अपने छोटे बालकों को लेकर हम एक नदी पर नहाने गए थे। हमारे बाल-मन्दिर के कई बालक आए थे।

नदी का पानी अपनी कल-कल, छल-छल आवाज़ के साथ बह रहा था। छोटे बालक अपने घुटनों तक पहुँचने वाले पानी में नहा रहे थे। वे एक-दूसरे पर पानी फेंक कर हँस रहे थे। पीठ के बल पानी में बैठकर वे आसमान के सामने देख रहे थे। कोई-कोई मछली की तरह पानी में बह रहे थे। बालकों की अपनी बढ़िया जल-क्रीड़ा चल रही थी।

मैं उधर से निकला। एक भाई किनारे खड़े-खड़े यह सब देख रहे थे। मैंने उनसे पूछा : 'क्यों भैया ! आप नहा लिए ?'

वे बोले : 'नहीं।'

मैंने कहा : 'आइए, हम नहा लें।'

वे रोने लगे और बोले : 'मेरी माँ ने नहाने की मनाही की है।'

मैंने पूछा : 'भला क्यों ?'

मैंने बहुत आग्रह किया, पर वे नहाने को तैयार नहीं हुए।

मैं विचार करने लगा : 'आखिर माँ ने मनाही क्यों की होगी ?'

मुझको लगा कि बालक अपनी माँ का बहुत ही लाडला होगा, शायद इकलौता भी हो, इसलिए माँ ने सोचा होगा कि कहीं उसका बालक पानी में डूब न जाए। नदी की तेज धारा में बह न जाए।

इसमें सन्देह नहीं कि इस मामले में माँ का अपना पुत्र-प्रेम ही काम कर रहा होगा। अपने बालक की सुरक्षा के विचार से ही माँ ने उसको नदी में नहाने से रोका होगा। और जब नदी में नहाए बिना ही बालक कुशल-पूर्वक घर पहुँचेगा, तो सचमुच माँ का यह विश्वास दृढ़ होगा कि इस तरह बालक को लिखा-पढ़ाकर और नदी में न नहाने का हुक्म देकर उसने अपनी दृष्टि से तो ठीक ही किया है।

बालक की दृष्टि से देखें, तो बालक के लिए माँ का यह जो प्रेम है, और इस प्रेम के मूल में माँ के हृदय की जो भावना है, उसको हम अस्वीकार नहीं कर सकते। फिर भी कहना होगा कि इसमें अज्ञान है, अथवा प्रेम की विकृत भावना है। माँ के मन में सहज ही यह भावना बनी रहती है कि उसका बालक सदा सुरक्षित रहे। किन्तु इसी के साथ माँ का मन यह भी चाहता है, उसको चाहना चाहिए, कि उसके बालक के शरीर और मन की सब शक्तियों का अच्छा विकास हो। बालक के प्रति माँ की अति ममता बालक के अपने विकास में ही बाधक बने, तो वह उसका मातृ-प्रेम नहीं, बल्कि मातृ-स्वार्थ ही माना जाएगा। माँ कभी यह न चाहेगी कि उसके बालक को कहीं कोई चोट पहुँचे। किन्तु इसी के साथ यदि माँ इस बात की चिन्ता न रखे कि उसका बालक निष्क्रिय और अशक्त न रहे, तो मानना होगा कि माँ की बुद्धि और भावना अविकसित और अन्धी रह गई है।

मान लीजिए कि बीस साल की अपनी उमर में यह बालक तैरना न जानने के कारण ही किसी बाढ़ में बह जाता है, जब कि इसके वे साथी जो नदी में नहाते-नहाते धीरे-धीरे तैरना सीखकर निर्भय बने हैं, बच जाते हैं, तो ऐसी स्थिति में इस बालक की माँ क्या सोचेगी ? वह तो अपना सिर पीटकर कहेगी कि हाय, हाय, मैं कैसी कम अक़्ल रही कि मैंने ख़ुद ही अपने बालक को शक्ति-सम्पन्न होने से रोका ? ख़ुद मैंने ही उसके हाथ-पाँव काट डाले, अथवा उनको बाँधकर रखा !

बहुत ज्यादा फिकर रखने वाली माताओं के बालकों की यही हालत होती है। यही सहज भी है। बालक का मूल स्वभाव अपनी हलचलों से शक्ति प्राप्त करने का है। किन्तु जब कोई शुभ चिन्तक माता बालक को सब तरह के काम करने से रोकती है, और बालक की सुरक्षा के विचार से उसके सारे काम ख़ुद कर देती है, या करवा देती है, तब बालक निकम्मा बनकर अन्दर-ही-अन्दर सड़ने लगता है। उसकी शक्ति का प्रवाह थोड़े समय के लिए ज़ोर

पकड़ने के बाद फिर क्षीण होने लगता है । बार-बार रोने और हाथ पांव पछाड़ने के बाद उसका अपना व्यक्तित्व कुण्ठित होने लगता है और अन्त में बालक हताश बनकर अशक्त होते रहने की दिशा पकड़ लेता है । इस तरह धीरे-धीरे वह अपना आत्मविश्वास खो बैठता है । वह अपनी माँ को ही सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान मानने लगता है । माँ की हर बात उसके लिए शास्त्र-वचन बन जाती है । वह खुद सोचने और काम करने की अपनी शक्ति खो देता है । वह बार-बार अपनी माँ से पूछता रहता है : 'माँ ! मैं यह करूँ ? माँ ! मैं वह करूँ ?' वह अपनी माँ की 'हाँ' और 'ना' का पाबन्द बन जाता है। उसमें उसका अपना कोई अपनापन रहता ही नहीं । लोग उसको अपनी माँ का पिट्ठू और माँ का फरमाबरदार कहने लगते हैं। बाद में अपने इसी फरमाबरदार बेटे से माँ कहती है : 'अभागे ! तू ऐसा नामरद कैसे बन गया ? कम्बख्त ! तुझको इतना संभाला और सहेजा, क्या इसी कारण तू इतना निकम्मा बन गया है ?' आदि-आदि । लेकिन यह सब तो 'का वर्षा, जब कृषि सुखाने' जैसी बात हो जाता है !

माँ को बालक की चिन्ता तो रहनी ही चाहिए । लेकिन यह चिन्ता बालक के लिए हमेशा हितकारी होनी चाहिए । यह चिन्ता न तो कल्पित होनी चाहिए, और न अकारण ही होनी चाहिए । असल में, माँ को अपने बालक से कहना यह चाहिए था कि : 'बेटा ! तुम्हारे शिक्षक जहाँ कहें, वहाँ तुम नहाना । जहाँ सब नहाते हों, वहीं तुम भी नहा लेना बिना अनुमति के घुटने-घुटने पानी से आगे मत बढ़ना ।'

माँ को अपने बालक के बारे में शिक्षक से भी बात कर लेनी थी। शिक्षक को सब-कुछ समझा देना था । भले ही बालक को अपने साथ ले जाने वाले पर हमारा पूरा भरोसा हो, फिर भी माँ का मन अपनी ओर से दो बात कहे बिना रहता ही नहीं । माँ अपनी बात जरूर कहे । किन्तु इसके बाद, जिस शिक्षक को बालक सौंपा है, उस पर, और सबसे बड़े गुरु भगवान पर, भरोसा करने की बात माँ को सीख लेनी चाहिए ।

सब माताएँ हमेशा यह नहीं सोचती कि कभी, किसी पर कोई भरोसा किया ही न जाए । किसी का मातृ-प्रेम भरोसे पर निर्भर करता है, किन्तु वह बालक के बारे में पूरी तरह निश्चिन्त नहीं रह सकता । माता को चाहिए कि वह अपनी इस कोमल भावना को बालक के ही हित में कुछ कठोर बना ले । इस तरह कठोर बनी हुई कोमलता को ही सच्ची और संतुलित भावना मानना चाहिए । कई माताएँ अपनी दुर्बल भावना के कारण अपने बालकों को निर्बल बनाए रखती हैं, और आखिर वे उनको खो बैठती हैं ।

जिस समय इस बालक के संगी-साथी नदी में नहाकर नहाने का आनन्द ले रहे थे, पानी के साथ अपनी पहली पहचान का मजा ले रहे थे, तैरने की कला सीखने की कोशिश में लगे थे, आत्मविश्वास का और स्वतंत्रता का अनुभव कर रहे थे, उस समय यह बालक नदी-किनारे खड़ा-खड़ा रो रहा था ! यह खुद तो नहाना चाहता था, पर इसकी माँ की मनाही इसको रोके हुए थी । खुद अपना विकास करने के बदले यह अपनी कुण्ठा बढ़ा रहा था। अपनी माँ की आज्ञा के कारण खुद जीते-जी एक पत्थर बनकर रह गया था । काश ! इसकी माँ ने ऐसी मनाही न की होती !

हमारी टोली के दूसरे सब बालक तो अपने-अपने घर जाकर अपनी माँ से और अपने पिता से कहेंगे : 'हम नदी में यों नहाए और त्यों नहाए । हम तैरना सीख गए । हमने पानी में ढेर सारी डुबकियाँ लगाईं । हमने पानी उछालने के खेल खेले' और, अपने बालकों की ये बातें सुनकर माँ-बाप दोनों को खुशी हुई होगी ।

अब सोचिए कि यह बालक अपने घर जाकर अपनी माँ से क्या कहेगा ? माँ पूछेंगी : 'तुम नदी में नहाए तो नहीं न ?' बालक कहेगा : 'मैं नहीं नहाया ।' और जब उसको नदी की और उसमें नहाने वाले अपने साथियों की याद आएगी, तो वह रो पड़ेगा और कहेगा : तुम्हीं ने मुझको कहा था कि मैं नदी में न नहाऊँ ।'

बालक की बात सुनकर माँ उस पर नाराज होगी और उससे कहेगी : बेटे ! 'तुम रोते क्यों हो ? न नहाकर तो तुमने अच्छा ही किया है । तुम

कितने समझदार हो कि तुमने मेरी बात मानी। ठीक है कि नदी में नहाते समय कोई बालक बहा नहीं। लेकिन अगर कोई बह जाता तो सोचो कि कितना अनर्थ हो जाता ?' बालक फिर अपनी माँ की विषैली दलील के चक्कर में फँस जाएगा वह रोना भूल जाएगा, और सोचेगा : 'अच्छा ही हुआ कि मैं डूब नहीं गया !'

यह बालक जब बड़ा होगा, और कभी डूबेगा ही नहीं, तो अपने बालकों को भी यह पानी में उतरने नहीं देगा, क्योंकि कहीं ऐसा न हो कि वे पानी में डूब जाएँ !

•

वह चोट खा जाती !

मैं अपने एक मित्र के घर बैठा था। इतने में एक छोटे बालक की शिकायत लेकर मित्र की माताजी हमारे पास आईं और बोलीं : 'ज़रा इस लल्लू को धमकाओ। अपनी मुन्नी को यह इस तरह दौड़ा रहा था कि अगर वह गिर पड़ती, तो चोट खा जाती।'

मित्र समझदार थे। उन्होंने माता जी का गुस्सा देख लिया। मुन्नी की आंखों में शिकायत का जो जोश उतर आया था, उसको भी देख लिया। फिर धीरे-से हँसते हुए कहा : 'लेकिन चोट लगी तो नहीं न ! तो बस, मामला खतम !' सुनकर माताजी झल्ला उठीं। बोलीं : 'लेकिन अगर मुन्नी चोट खा जाती तो उसके हाथ-पैर न टूट जाते ? हमारे घर यह सब नहीं चलेगा। लल्लू लाडला है तो भले ही अपने घर में वह लाड़ला बना रहे !'

मित्र ने फिर हंस कर कहा : 'लेकिन माताजी ! मुन्नी को चोट लगी तो नहीं है न ?'

माताजी और अधिक झल्लाईं और बड़बड़ाती हुई बोलीं : 'लेकिन अगर मुन्नी चोट खा जाती, तो क्या होता ?' वे जाते-जाते बोलीं : 'कल लल्लू को यहाँ आने दो। मैं ही उसको धमकाऊँगी।'

मेरे मित्र का व्यवहार उचित ही था। वैसा ही होना चाहिए था। हम इतनी बात भी साफ़-साफ़ नहीं समझते कि 'अमुक काम ऐसा हो जाता', इसी को एक आधार बनाकर लड़ना-झगड़ना, और डाँटना-डपटना कितना मूर्खतापूर्ण है ? दो बालकों के बीच ऐसी कोई घटना घट जाती है, तो हम तुरन्त ही 'ऐसा होता, ऐसा होता, ऐसा होता' कह कहकर चीखने-चिल्लाने लगते हैं, कलपने-जलपने लगते हैं, और इस तरह आपस ही आपस में झगड़ों

के बीज बो देते हैं। और, सच तो यह है कि ऐसी ही कई नाकुछ-सी बातों को लेकर बहुतेरे पड़ोसी आपस में लड़ते-झगड़ते देखे जाते हैं।

किसी बात को देखने-समझने की हमारी दृष्टि में जो फरक होता है, उसी के कारण इस तरह सोचने की एक आदत-सी पड़ जाती है। हम बड़े-बूढ़े लोग अपने जीवन में इस बात की कल्पना कर-करके थर्रा उठते हैं कि 'अगर ऐसा हो, अगर ऐसा हो, तो ऐसा हो ही जाए!' और असल में जहाँ कोई दुःख नहीं होता, वहाँ भी हम दुःख का अनुभव करने लगते हैं। अपनी इसी आदत के कारण ही हमने 'ऐसा हो जाता' का एक भय अपने मन में भर रखा है। हमेशा की हमारी यह आदत आपसी कलह का एक कारण बनती है लेकिन अगर हम में सही दृष्टि से देखने की समझदारी हो, तो हम यही सोचेंगे कि 'अच्छा ही हुआ, जो ऐसा हो नहीं पाया।' चोट लगी नहीं, तो यह एक फ़ायदा ही हुआ। दियासलाई सुलगी, लेकिन उस से आग नहीं लगी, तो वह एक बड़ा लाभ ही हुआ। भूल से छुरी पर पैर पड़ गया, पर पैर कटा नहीं, तो वही एक बड़ी कमाई हो गई। चोट सीधी लगी नहीं, वार खाली गया, तो वही एक लाभ हुआ।'

दो पहलुओं में से हम अच्छे पहलू को देखें, सीधी बाजू का विचार करें, तो हम सुखी बन सकते हैं। बालकों की शिकायतें लेकर, 'ऐसा हो जाता', कहते हुए, हम किसी के साथ लड़ने-झगड़ने न जाएँ।

अलबत्ता, इसका मतलब यह नहीं कि किसी की भी मनमानी होती रहे, और हम उसकी परवाह ही न करें। अथवा कोई दुर्घटना घटने की सम्भावना हो, और तब हम दूरन्देशी से काम न लें। बात 'होने देने' की नहीं है। हो जाने पर उचित उपाय तो करना ही चाहिए। कुछ हो न जाए, इसकी चिन्ता या फिकर भी रखनी चाहिए। लेकिन जो हुआ नहीं है, मन में उसके हो जाने का भय रखकर या उसकी चिन्ता करके न तो हम खुद दुखी हों, और न बालकों के साथ या उनके माँ-बापों के साथ लड़ें और झगड़ें।

•

बालक के प्रति अश्रद्धा

छोटा बच्चा यह मानकर कि उसमें शक्ति आ चुकी है, अपनी इस शक्ति में विश्वास रखकर पतीली उठाता है और अपनी माँ को देने जाता है। माँ कहती हैं: 'तुम पतीली रख दो। यह तुम से नहीं उठेगी'।

बच्चा मेहनत करके निसैनी पर चढ़ने की शक्ति प्राप्त कर लेता है। दो सीढ़ियाँ चढ़ चुकने के बाद जब वह तीसरी सीढ़ी पर चढ़ने लगता है, तो पिता उससे कहते हैं: 'बेटे! नीचे उतरो। अभी निसैनी पर चढ़ने लायक तुम हुए नहीं हो। निसैनी पर से गिरोगे, तो तुम्हारी हड्डी-पसली टूट जायेगी।'

बच्चा अपनी अँगुलियों का ध्यान रखकर साग काट रहा है, या पेन्सिल की नोक निकाल रहा है। तभी पिता नाराज़ होकर कहते हैं: 'बेटे! चाकू नीचे रख दो। अभी तुम बच्चे हो। बड़ों का यह काम तुम क्यों कर रहे हो?'

बच्चा कहता है: 'अब तो मैं इस बड़े गड्ढे को लाँघ सकता हूँ। अब तो मैं यह इतना बड़ा पत्थर उठा सकता हूँ।' तभी अन्दर से आवाज़ आती है: 'बेटे! चींटे की कमर सँभालना।'

दरवाज़ा खुल नहीं रहा है। बच्चा कहता है: 'आप हटिए, मैं खोल देता हूँ।' सब उसको शरमिन्दा करते हुए कहते हैं: 'बेटे! यह तुम्हारे बूते का काम है नहीं।'

घर के बड़े-बूढ़े संकट के किसी अवसर पर किसी समस्या को सुलझाने में लगे हैं। यदि किसी समय कोई बालक आकर अपनी दृष्टि से समस्या का कोई हल सुझाना चाहता है, तो उसकी बात सुनकर सब कहते है: 'लो, देखो! कुम्हार से गधा अधिक सयाना है!'

लड़की दाल-साग छौंकना चाहती है। माँ, कहती हैं : 'बेटी ! तुम जल जाओगी।' लड़की कहती है : 'माँ मैं चावल बीनना चाहती हूँ।' माँ कहती हैं : 'बेटी ! तुम गिरा दोगी। तुमको चावल बीनना आता नहीं है।

बार-बार इस तरह की बातें कहकर हम बालक के मन में अपने प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करते रहते हैं। बालक अमुक समय में अमुक काम सीखना चाहते हैं। उस समय का उनका उत्साह ज़बरदस्त होता है। नया-नया जानने की वृत्ति उनके अन्दर से प्रकट होती है, इसलिए वे हर काम में अपनी दिलचस्पी दिखाते हैं, और इसी कारण वे अपना काम पूरी एकाग्रता से करते हैं। ऐसे समय में वे अपने आपको पूरी फिकर के साथ सँभाले रहते हैं। ऐसी स्थिति में जब उनसे कहा जाता है कि वे अमुक काम को इस या उस रीति से करें, तो वे भूल से बचने के लिए असाधारण सावधानी रखकर काम पूरा करते हैं। जब अपने विकास के लिए आवश्यक कोई काम उनको मिलता है, तो उनके चेहरे पर आनन्द छलकने लगता है, और उनका शरीर चेतना से भर उठता है। जैसे-जैसे वे काम करते जाते हैं, वैसे-वैसे पल-पल में काम करने की अपनी शक्ति में उनका विश्वास बढ़ता रहता है। इस बढ़े हुए विश्वास के कारण ही बालक हम से कहते हैं : 'हम यह काम कर सकेंगे। इसको हमें करने दीजिए। हम इसको करना जानते हैं !' यदि हम उनको काम करने से रोकते हैं, तो अक्सर वे हम से झगड़ते हैं, और हमारी मार भी खाते हैं।

किन्तु इस तरह बार-बार मना करने से, और यह कहते रहने से कि तुम यह काम नहीं कर सकोगे, बालक अपना आत्मविश्वास खो बैठता है। इसके बाद तो वह खुद काम करने से ही डरने लगता है। काम शुरू करते समय उसको अपने माँ-बाप की बातें याद आती है, और वह काम करना छोड़ देता है। वह खुद यह मानने लगता है कि सचमुच उससे यह काम होगा ही नहीं। जब कोई उससे कहता है : 'बेटे ! सुनो, वह पाटा यहाँ ले आओ ! तो वह पाटा लाने से इन्कार कर देता है। यदि ज़बरदस्ती की जाती है, तो पाटा उसके हाथ से छूट कर गिर पड़ता है और तब बालक रोने लगता है।

कारण पूछने पर पता चलता है कि बालक यह मानने लगा है कि यह काम उससे हो नहीं सकता। ऐसी हालत में वह उस काम को कर कैसे सकता है ?

मुझ को ऐसे कई उदाहरणों की याद है। उनमें से एक ही उदाहरण यहाँ देना काफी होगा। चन्द्रशेखर की मां ने उनके अन्दर अविश्वास की भावना भर दी थी। मैंने उनसे कहा : 'भैया ! चलो, हम इस पुल पर चलें।'

वे बोले : 'मैं नहीं चल सकता। मैं डूब जाऊँगा।'

मैंने पूछा : 'डूबने की बात किसने कही है ?'

वे बोले : 'मेरी माँ ने कही है।'

मैंने कहा : 'चन्द्रशेखर भाई ! वह पत्थर उठा आओ।'

वे बोले : 'मैं नहीं उठाऊँगा।'

मैंने पूछा : 'क्यों नहीं उठाएँगे !'

वे बोले : 'मुझ से वह उठेगा नहीं।'

मैंने पूछा : 'आपने यह बात कैसे जानी ?'

वे बोले : 'मेरी माँ ने कहा है कि मुझसे यह उठेगा नहीं।'

मैंने कहा : 'लेकिन मैं कहता हूँ कि आप इसको उठा सकेंगे। आइए, हम उठा कर देखें।'

अन्त में उनके साथ रहकर जब मैंने उनको विश्वास करा दिया कि वे इस काम को कर सकते हैं. तो वे सहज ही हँसे और फिर किसी विचार में डूब गए।

उस दिन से चन्द्रशेखर के जीवन में बहुत परिवर्तन हुआ। उनमें खोई हुई श्रद्धा की किरणें फिर प्रकट होने लगी।

बालकों में अश्रद्धा उत्पन्न करके हम उनको शक्तिहीन बना डालते हैं। असल में बालकों के प्रति हमारा अविश्वास या हमारी अश्रद्धा हमारे अपने अविश्वास और हमारी अपनी अश्रद्धा की सूचक है।

हमको अपने बालकों में विश्वास रखने की अपनी शक्ति और अपने साहस का विकास करना चाहिए। यदि हम उनमें थोड़ी भी श्रद्धा रखेंगे, तो वे हमको यह प्रतीत करा ही देंगे, कि वे बहुत अधिक श्रद्धा के पात्र हैं। बालक छोटा है, पर वह मनुष्य है, और अपनी मनुष्यता का विकास करने के प्रयत्न में लगा है। हमारा काम है कि हम बालक में विश्वास रखें, और आगे बढ़ने में उसकी मदद करें। बालक हमारे विश्वास का अधिकारी है। हम उसको विश्वास दें।

टोका टोकी

जिनको बार-बार दवा खाते रहने की आदत पड़ चुकती है उन पर दवा या तो बहुत ही कम असर करती है, या बिलकुल नहीं-जैसा ही असर करती है। डॉक्टर को रोज़-रोज़ दवा की मात्रा बढ़ानी ही पड़ती है। अपने ऐसे बीमारों को डॉक्टर 'क्रॉनिक पेशेण्ट्स' कहते हैं। डॉक्टर दवा देते रहते हैं। बीमार लोग दवा पीते रहते हैं। बीमारी आगे बढ़ती रहती है और जिन्दगी घटती रहती है।

इसका कारण क्या है? मूल कारण है, आदमी का बीमार पड़ना। यदि आदमी ने अपने स्वास्थ्य को सँभाला होता, तो उसको दवा पीनी ही न पड़ती। दूसरा कारण यह है कि डॉक्टर ने उसको स्वस्थ रहने का रास्ता न दिखाकर सिर्फ उसकी बीमारी मिटाने का प्रयत्न किया। तीसरा कारण यह है कि जैसे-जैसे बीमारी दूर हुई, वैसे-वैसे दवा की ज्यादा-से-ज़्यादा तेज खुराकें दी गईं। अब डॉक्टर और शरीर-शास्त्री मानने लगे हैं कि इन उत्तेजक दवाइयों से और इनके मन्द परिणामों से मुक्ति प्राप्त करने के लिए दवाखानों के बदले आरोग्य-सदनों का निर्माण किया जाना चाहिए, और अब डॉक्टरों की जगह आरोग्य-शास्त्रियों को ले लेनी चाहिए। दवा के लिए दौड़ने वाले बीमार को दवा के बदले पहले से ही शुद्ध हवा का लाभ देना चाहिए।

इस विचारधारा को ध्यान में रख कर बाल-शिक्षा के क्षेत्र में हम टोका टोकी के स्थान पर विचार करें। माँ-बाप बार-बार हम से पूछते रहते हैं: 'भैया! अपने इन बच्चों का अब हम क्या करें? हम कह-कहकर थक जाते हैं, पर ये बच्चे हैं कि हमारी कोई बात सुनते ही नहीं। एक बार कही गई बात को तो बिलकुल अनसुनी ही कर देते हैं! जब पाँच-पचास बार

कहते है, तब कहीं ये थोड़ा ध्यान देते हैं। आखिर इसका इलाज क्या है? इनको जितना ज्यादा कहते हैं, ये उतनी ही ज्यादा अनसुनी करते हैं!'

हम ऊपर देख चुके हैं कि दवाइयां जितनी ज्यादा ली जाती हैं, उनको उतनी ही अधिक मात्रा में लेना ज़रूरी हो जाता है, और तभी उनका थोड़ा असर होता दिखाई पड़ता है। टोका टोकी के मामले में भी यही स्थिति बनती है। हम बालकों को जितना ज्यादा टोकते हैं, टोका टोकी की मात्रा उतनी ही ज्यादा बढ़ती जाती है। जिस तरह लम्बे समय के बाद दवा अपना कोई असर नहीं दिखाती, उल्टे, वह कोठे पड़ जाती है, उसी तरह जब लम्बे समय तक एक ही बात बार-बार कही जाती है, तो सुनने वाले पर कहे हुए शब्दों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सुनने वाला सुन-सुनकर इतना 'रीढ़ा' या पक्का हो जाता है कि वह सोचने लगता है: 'भई, ये तो कहते ही रहते हैं। दिन भर इनकी एक ही रट चलती रहती है। ये अपनी आदत से लाचार हैं। हम तो जो कहते रहे हैं, बस, वही करते रहें!' लगातार टोकते रहने से बालक में एक ऐसी मानसिक वृत्ति उत्पन्न हो जाती है।

असल दोष इस बात में है कि बालक के साथ व्यवहार कैसे किया जाए? अधिकतर तो बालक हमारी बात सुनने और खुशी-खुशी वैसा करने के लिए तैयार होता है। उसके मन की सहज वृत्ति तो स्वस्थ होती है। उल्टे, वह तो मना करने पर भी काम करने के लिए दौड़ पड़ता है! यदि हम उसको काम नहीं करने देते, तो वह रोने लगता है। किन्तु हम ही उसकी इस स्वस्थ और सहज वृत्ति को अस्वस्थ, रुग्ण अथवा विकृत बना देते हैं। जिस समय हम बालक में सहज रूप से पाई जाने वाली काम करने की, कहा हुआ काम करते रहने की और हमारी बात को सुनने की वृत्ति को रोकते हैं, उसी समय से बालक को रोकने-टोकने का सिलसिला शुरू हो जाता है। एक बार जब हम बालक के सहज उत्साह को रोक देते हैं, तो उसका मन बैठ जाता है, उसको एक आघात पहुँचता है, उसकी दिशा बदल जाती है, उसके कान बन्द हो जाते हैं, उसके अन्तर में हमारी आवाज़ का पहुंचना बन्द हो जाता है। हमीं ने अपने व्यवहार से उसके कानों को बहरा बनाया, और फिर हम ही

शिकायत करने लगे कि बालक हमारी बात सुनता नहीं है! आगे हम ही इसके उपाय की खोज में निकल पड़े! हमींने बालक को बीमार बनाया और बीमारी की दवा देनी शुरू कर दी। लेकिन असल सवाल तो यह है कि जो बीमारी शुरू हो गई है, उसका क्या किया जाए? जैसे-जैसे टोका टोकी की अपनी खुराक हम बढ़ाते जाते हैं, वैसे-वैसे बालक अधिक-से-अधिक संवेदन-शून्य बनता जाता है। हमारी बात न सुनने और न मानने का मानसिक रोग इसी कारण उसके मन में अपनी जड़ जमा लेता है। इसमें सन्देह नहीं कि हर बढ़ी हुई खुराक के साथ बालक कुछ समय तक हमारी बात सुनेगा, हमारा कहा मानेगा। किन्तु जिस तरह दूसरी उत्तेजक औषधियों के कारण अन्त में शरीर शिथिल होने लगता है, उसी तरह गालियों आदि से या टोका टोकी से उत्तेजित हुआ मन फिर शिथिल बन जाता है, और अधिक शिथिल या मन्द होने पर वह अधिक टोका टोकी की अपेक्षा रखने लगता है। आखिर एक समय ऐसा भी आता है कि बालक सदा के लिए हमारे हाथ के बाहर चला जाता है फिर तो उस पर किसी भी शब्द का कोई प्रभाव नहीं पड़ता—ठीक उसी तरह जिस तरह अन्त में कोई भी दवा रोगी के पेट में टिक ही नहीं पाती!

टोका टोकी के इन उत्तेजकों से हम अपने बालक को सदा दूर ही रखें। हम उसको दवा के बदले हवा दें। जब वह सहज भाव से हमारा कहा करने को और हमारी बात सुनने को तैयार होता है, उस समय हम वैसा करने की उसकी रुचि, वृत्ति और शक्ति को बढ़ावा दें, और जब वैसा करने की उसकी इच्छा न जागे, तो ऐसे समय हम उसको अपने दबाव से मुक्त ही रखें।

•

दिला दो !

विमला रोती-रोती माँ के पास पहुँची और बोली : "माँ ! मुझको कमला से कैंची दिला दो !"

विमला छोटी थी। कमला बड़ी थी। कमला कैंची से काग़ज़ कोर रही थी। विमला भी काग़ज़ कोरना चाहती थी।

माँ ने ऊँची आवाज़ में कहा ; "सुनो कमला ! विमला को कैंची दे दो।"

कमला बोली : "माँ, मुझको काग़ज़ कोरने हैं। मुझको तरह-तरह की आकृतियाँ बनानी हैं।"

माँ ने कहा : "तुम देखती नहीं हो कि विमला रो रही है ? तुम इतनी बड़ी हो गई हो। अपनी छोटी बहन को रुलाने में तुमको शरम नहीं आती ?"

कमला को कैंची देनी पड़ती है। विमला कैंची लेकर काग़ज़ काटने बैठ जाती है।

कमला चित्र बना रही है। पानी के रंगोंवाली पेटी और पी'छी उसके सामने पड़ी है। विमला कमला के पास जाकर बैठती है, और कहती है : 'मुझको पी'छी दो।'

कमला ने कहा : "मैं नहीं दूँगी। मुझको चित्र बनाने हैं। तुम इस पेटी का उपयोग करना जानती नहीं हो।"

विमला बोली : "मैं माँ से कहकर यह पेटी तुमसे ले लूँगी। तुम नहीं दोगी, तो मैं माँ से कहूँगी। फिर देखना, माँ दिलाती हैं या नहीं ?"

विमला ने माँ से कहा : "माँ ! कमला से कहकर रंगों की यह पेटी और पी'छी मुझको दिला दो न ! मैं चित्र बनाना चाहती हूँ।"

माँ बोलीं : "तुम तो अभी छोटी हो। भला, तुम चित्र कैसे बनाओगी ?"

विमला ने कहा : "ऊँ-ऊँ-ऊँ ! मुझको चित्र बनाने हैं। जब दीदी चित्र बनाती हैं, तो मैं क्यों न बनाऊँ ? मुझको पेटी और पी'छी दिला दो।"

माँ बोली : "बेटी कमला ! इस विमला को तुम थोड़ी देर के लिए अपनी पेटी और पी'छी दे दो न ?' यह भी चित्र बनाना चाहती है।"

कमला ने कहा : "लेकिन अम्माजी ! यह विमला तो पेटी के सारे रंग खराब कर देगी। यह चित्र बनाना जानती कहाँ है ? तुम कहो, तो मैं इसको अपने पास बैठा लूँ, और अपने ये चित्र इसको दिखाऊँ।"

माँ बोली : "बेटी कमला! थोड़ी देर के लिए इसको दे दो न ? इसका रोना-मचलना बन्द तो हो।"

कमला ने कसैला मुँह बनाकर अपनी पेटी और पी'छी विमला को दे दी।

विमला ने कहा : "लो, देखो, तुम तो नहीं देना चाहती थीं न ? अम्माजी से कहकर मैंने ले तो लिए न ?"

जब छोटे बच्चों को बड़े बच्चों से कुछ लेना होता है, तो वे अपनी माँ की शरण में जाते हैं। माँ छोटे बच्चे का पक्ष लेती है। इस विचार से कि बालक छोटा है, माँ या तो उसको अधिक चाहती है, या बच्चे का रोना उससे सहा नहीं जाता, या वह उसका मचलना देख नहीं पाती, या कुछ माँगने के लिए आए हुए बालक को वह अपने पास से हटाना चाहती है, या यह मानकर कि छोटे बालक को तो हमेशा ख़ुश ही रहना चाहिए, बड़े लोग भले ही थोड़ा सहन कर लिया करें, पर छोटे बच्चों की माँग या इच्छा तो पूरी करनी ही चाहिए, माँ ऐसा व्यवहार करती दिखाई पड़ती है। इस प्रकार अलग-अलग कारणों से माँ छोटे बच्चे को हमेशा कुछ-न-कुछ दिलाती रहती है। कोई माँ अपने बड़े बच्चे को हुक्म देकर, उस पर थोड़ा ज़ुल्म करके, उसकी पिटाई कर के भी छोटे बालक को उसकी मनचाही चीज़ दिला देती है, तो कोई माँ अपने बड़े बालक को समझाकर और फुसलाकर या कोई लालच देकर छोटे को

उसकी चाही चीज दिलवा देती है। कोई माँ कभी कोई चीज़ दिला देती है, और कभी दिलाने से इनकार भी कर देती है। लेकिन जब छोटा बालक जिद् पकड़ता है, तो वह उसको फिर दिला भी देती है। कोई माँ बड़े बालक की आवश्यकता को उचित मानकर पहले तो दिलाने से इनकार करती है, लेकिन बाद में छोटे बालक की ज़िद्, रुलाई या दुःख से विवश होकर उसको उसकी मनचाही चीज़ दिला देती है।

इस तरह अपनी माँ की मदद से छोटा बच्चा बड़े बच्चे पर बार-बार हावी होता रहता है, और फिर वह बहक जाता है। बस, उसके मन में यह विचार आने की देर भर कि उसको किसी से कुछ ले लेना है। 'दिला दो' के अपने अनुभव के भरोसे वह मान लेता है कि माँ उसको उसकी चाही हुई चीज दिला ही देंगी। शायद माँ उसकी ज़िद् के लिए उसको मार भी दें, लेकिन अन्त में वे उसको उसकी चीज़ दिला तो देंगी ही ! ऐसा बालक 'दिला दो' की बुराई में फँस जाता है। इसी कारण वह एक अत्याचारी बन जाता है। वह दूसरे बालक की ज़रूरत को देखता नहीं, उसकी बात सुनता नहीं और उस पर विचार करता ही नहीं। दूसरों की भावना का सम्मान करने का विवेक उसमें रहता ही नहीं। एक कमज़ोर सत्ताधारी के हथियार के रूप में रोकर और ऊधम आदि मचाकर वह अपनी विचार-शून्य और विवेकशून्य अथवा कच्चे मनवाली माँ पर अपना प्रभुत्व जमा लेता है। उसका स्वभाव एक सत्ताहीन, पराई ताक़त पर निर्भर करने वाले और निरंकुश व्यक्ति का-सा बन जाता है। 'कमज़ोर और ग़ुस्सा भारी' वाली कहावत उस पर पूरी तरह लागू होती है।

जो बालक इस 'दिला दो' वाली बात में सफल होता रहता है, वह न केवल अपने विवेक और विचार से हाथ धो बैठता है, बल्कि ख़ुद भी वह गुलाम बन जाता है। वह अपनी पात्रता अथवा योग्यता का विचार नहीं करता। उसके मन में यह भ्रम उत्पन्न हो जाता है कि वह जिस चीज़ की माँग कर रहा है, उसके लायक वह ख़ुद है। और जब उसको उसकी चाही चीज नहीं मिलती, तो वह किसी-न-किसी की शरण में जाता है, और शरण देने वाले का दास बनता है।

'दिला दो' के रास्ते पर चलने वाला बालक चाहता है कि दूसरा कोई उसके लिए कुछ कर दिया करे और न करे, तो वह उससे लड़ ले। लेकिन वह यह कभी समझता ही नहीं कि उसको ख़ुद कुछ करना चाहिए या उसके लिए ख़ुद ही लायक बनना चाहिए। इसका परिणाम यह होता है कि जब उसको कोई दिला देने वाला नहीं मिलता, अथवा कोई देने वाला नहीं मिलता, तो वह बहुत दुखी हो उठता है, और हैरान-परेशान रहने लगता है।

ऐसा बालक अपनी बड़ी उमर में बहुत दुःख के साथ यह समझ पाता है कि इस दुनिया में लायक आदमी के लिए सब कुछ सुलभ है। तब उसको यह बात अखरने लगती है कि 'दिलादो' की अपनी आदत के कारण वह तैयार भोजन तो खाना सीख गया, पर ख़ुद कुछ पाने और कमाने लायक बन नहीं सका। 'दिला दो' की अपनी इस आदत के कारण वह झूठे अभिमान वाला और दूसरों पर अपना प्रभुत्व जमाने वाला तो बन गया, पर इसके कारण वह स्वाभिमान से कोसों दूर चला गया। माता-पिता को चाहिए कि वे अपने बालक को 'दिलादो' की इस लत से बचा लें। हम जिनको दिला देते हैं, वे स्वार्थी और निरंकुश बन जाते हैं, और जिन से दिलाते हैं, उनके साथ अन्याय होता रहता है। इस ग़लत व्यवहार के कारण भाई-भाई के या भाई-बहन के बीच मेल-मिलाप के बदले दुश्मनी खड़ी हो जाती है। एक सोचता है कि माँ उसको चाहती हैं, और दूसरा मानता है कि उसकी माँ बुरी हैं। वे उसको हैरान करती रहती हैं। वे उसकी ही चीज़ छीनती रहती हैं ! चाही हुई चीज़ दिला देने के बाद बालक आपस में लड़ने लगते हैं और एक-दूसरे से कहते हैं : 'तुम मुझको देना नहीं चाहते थे न लो, देखो, मैंने तो ले ही लिया !' सुनते ही दूसरा बालक चिढ़कर या तो मारने दौड़ता है, या दुखी बनकर गालियाँ देने लगता है, या रोना शुरू कर देता है। इस सबका नतीजा यह होता है कि हम अपने ही बालकों के बीच दुश्मनी पैदा कर देते हैं।

माता-पिता के नाते इस विषय में हमको बहुत सावधनी बरतनी चाहिए। जब घर में दो-चार बालक होते हैं, तो उनमें देखा देखी की वृत्ति सहज होती है। किन्तु हमेशा देखा देखी से काम करना लाभ दायक नहीं

होता। जब कोई बालक अपनी योग्यता से आगे बढ़ कर कोई काम करना चाहता है, तो उससे उसको नुक़सान ही होता है। अपनी कुछ योग्यता के साथ किया गया अनुकरण तो सीखने के प्रयत्न का रूप ले लेता है। बड़े बच्चे जो काम करते हैं, जब छोटे बच्चे उनको कर नहीं सकते, उनमें उनको करने की शक्ति आ ही नहीं सकती ऐसी हालत में भी जब वे वैसे काम करना चाहते हैं, तब उन कामों के लिए हम उनको बड़े बच्चों की कोई चीज़ कभी दिलाएँ ही नहीं। या तो हम उनको बड़े बच्चों का काम देखने के लिए उनके पास बैठने दें, या उनको उनके काम में सहायक बना दें। जैसे, यदि बड़े बच्चे चित्र बना रहे हों, तो छोटे बच्चे पानी लाने या पींछी धो देने का काम सँभाल लें, अथवा उस काम के बदले वैसा ही दूसरा कोई काम उनको दे दें। किसी भी स्थिति में दूसरे की कोई चीज़ उनको कभी दिलाएँ नहीं।

जब हमको लगे कि बालक जो चीज़ चाहता है, वह उसके लिए जरूरी है, तो भी बालक के चाहने-भर से हम उसको वह चीज़ दिला न दें। बालक को अपनी चाही चीज़ के मिल जाने से जो लाभ होता है, उसकी तुलना में दिलवा देने की आदत का पड़ना बालक के लिए अधिक हानिकारक है। बालक को वैसी दूसरी कोई चीज़ दी जा सकती हो, तो भले दे दी जाए, नहीं तो उससे कहा जाए कि अपनी बारी आने तक वह बाट देखे। हम ढेरों चीज़ें चाह सकते हैं, लेकिन जीवन का व्यवहार ही ऐसा है कि अपनी मनचाही चीज़ें हमको तुरन्त ही मिल नहीं सकतीं। अपनी इसी उमर में बालक को इस साधारण नियम की जानकारी हो जाए, तो अच्छा ही हो। यदि हम बालक को दूसरी कोई चीज़ दे न सकते हों, अथवा बालक जो चाहता है, वह उस चीज़ को पाने योग्य नहीं है, तो भले ही हम उसको विवशभाव से रोने दें, लेकिन दूसरे से उसकी चाही चीज़ तो उसको हरगिज़ न दिलाएँ।

दूसरे से उसकी चीज़ दिला देना हमारे लिए आसान होता है। बड़े बालक को हुक्म दिया जा सकता है। उसको सरलता से समझाया भी जा सकता है। अथवा अपनी मनमानी करने के लिए उसके साथ अत्याचार भी किया जा सकता है। इन कारणों से 'दिला देने' के लोभ में पड़ कर हम माँगने

वाले बालक के लिए सच्चा रास्ता खोजना पसन्द नहीं करते। उसके लिए ज़रूरी मेहनत नहीं करते। किन्तु ऐसा करने से जहाँ छोटा बालक कुछ समय के लिए खुश होकर हम पर प्रसन्न हो जाता है, वहीं, उसी समय, बड़ा बालक हम पर से अपना विश्वास और प्रेम दोनों खो देता है। 'दिला देने' की जो शक्ति हम में है, उसका उपयोग करने में शाहीपन है, तो उसका रास्ता खोजने में सयानापन है।

फिर भी अकसर ऐसे नाजुक मौक़े आ खड़े होते हैं कि जब हमको न तो छोटे बच्चे की माँग को नामंजूर करना मुनासिब लगता है, और न बड़े बच्चे से उसकी कोई चीज़ ले लेना न्यायोचित मालूम होता है। तिस, पर भी हम चाहते तो यही हैं कि दोनों बच्चों के मन खुश रहें। दोनों की इच्छाएँ पूरी हों। ऐसी स्थिति में हम उनको परस्पर सहयोग करने की ऐसी युक्ति सुझा दें कि दो में से किसी के भी मन पर यह छाप न पड़े कि उसको कोई चीज़ दिला दी गई है या उससे कोई चीज़ ले ली गई है। दोनों को मानसिक सन्तोष मिलना चाहिए। यह काम या तो दोनों को किसी तीसरे काम में लगा देने से हो सकता है, अथवा दोनों को उसी काम में से कोई नया काम दे देने से हो सकता है।

बालक के मन में हम यह विचार पैदा न होने दें कि क्योंकि हम बड़े हैं, इसलिए हम चीज़ें दिला सकते हैं और अपना मनचाहा न्याय कर सकते हैं। इससे अच्छा तो यह है कि जहाँ हमारा बस न चले, वहाँ हम बालकों से कह दें: 'जाओ, तुम को जो ठीक लगे, सो तुम करो। मैं इस बारे में तुमसे कुछ नहीं कहूँगा।' उस हालत में भले ही दोनों आपस में लड़-झगड़ कर तय करें कि किसको क्या लेना है और क्या देना है! शायद इसमें सही न्याय न हो, फिर भी इसमें हमारे पक्षपात पूर्ण न्याय की कोई सम्भावना रहेगी ही नहीं! अकसर देखा गया है कि जब हम बालकों को उनके अपने झगड़े आपस में ही निपटा लेने की स्वतंत्रता दे देते हैं, तो वे आपस में टकराकर जल्दी ही किसी ठीक परिणाम पर पहुँच जाते हैं। इसके विपरीत, जब हम उनके बीच में पड़ते हैं, तो बालकों में असन्तोष उत्पन्न होता है और वे एक-

दूसरे के दुश्मन बन जाते हैं। अच्छा यही है कि आपस में टकराकर वे एक-दूसरे के मित्र बनें और इस बात को स्वयं समझें कि वे अपनी इच्छा और मर्यादा को कैसे सँभालें।

संक्षेप में, दिला देने की रीति उचित नहीं लगती इसलिए हम उसको छोड़ ही दें।

•

गोद पसन्द बालक

घर में बातें चल रही थीं। चम्पा की माँ ने पूछा : 'इन्दुबहन, यह रमा जब छोटी थी, तो यह 'दोद' यानी गोद गोद कहा करती थी। गंगा की भी यही आदत रही। नटवर भी यही कहता रहा। लेकिन अकेली यह चम्पा ही ऐसी है, जिसने कभी गोद की बात नहीं कही। उलटे, जब हम इसको गोद में उठाते हैं, तो अपने पैर चलाकर यह कहती है : 'मुझको नीचे उतलना है, मुझको नीचे उतलना है।' रवि जब छोटा था, तो उसको भी गोद में चढ़ना पसन्द नहीं था। भला, इसका कारण क्या है?'

कुछ देर तक सोचने के बाद इन्दुबहन ने कहा : 'चम्पा की माँ, एक कारण तो स्पष्ट ही है। अपने बालकों के बारे में तो मुझको यह एक ही कारण समझ में आ रहा है। दूसरों के अनुभव जानने पर बात अधिक चौकसाई के साथ कही जा सकती है।'

चम्पा की माँ : 'कहिए, क्या कारण है?'

इन्दु : 'मुझको तो इसमें नौकर ही कारण-रूप मालूम होते हैं। जिन दिनों रवि छोटा था, हमारे घर में कोई चपरासी नहीं था। जब हम उसको घुमाने ले जाते थे, तो वहाँ भी वह अपने पैर हिलाकर नीचे उतर जाता था, और हम उसको पैदल चलने देते थे। उन दिनों हमारे पास काम भी इतना नहीं था कि हमको घर लौटने की जल्दी होती, और इस कारण हम उसके पीछे-पीछे चल न पातीं। रवि हमारे परिवार का पहला बालक था, इसलिए वह हम सबका बहुत लाड़ला भी था। उन दिनों हम अपने बालकों के लालन-पालन के बारे में अधिक समझती नहीं थीं, पर रवि की छोटी-छोटी बाल-सुलभ क्रीड़ाओं को देखने में हमको बहुत मज़ा आता था। वह अपने नन्हें-नन्हें

पैर जमाता हुआ आगे-आगे चलता था, और हम उसके पीछे-पीछे चला करते थे। कहीं वह चींटियों को देखने के लिए खड़ा रह जाता था, तो हम भी उसके पीछे खड़े हो जाते थे। मोर को देखने के लिए जब वह तालाब की पाल पर बैठ जाता, तो हम भी उसके पास ही बैठ जाते थे। उसको गोद में उठाने की ज़रूरत नहीं थी, और हम उसको उठाते भी नहीं थे। यही कारण है कि वह गोद-पसन्द बना नहीं। लेकिन रमा के जन्म के समय तो घर में नौकर आ चुका था। जब दूसरों के बच्चों को उनके नौकर गोद में उठाते, और वे उनको घुमाने ले जाते, तो उनको वैसा करते देखकर तुम्हारे मन में भी यह मोह जागा कि अपने बालक को अपने पैरों न चलने दिया जाए। तुमने इस बात में अपनी शान और शोभा मानी कि नौकर तुम्हारे बालक को अपनी गोद में उठाकर तुम्हारे पीछे-पीछे चले। तुमने मान लिया था कि इससे बच्चा भी खुश रहेगा। नौकर के कारण मिले अपने बड़प्पन का भूत तुम्हारे मन पर सवार हो चुका था। हमने अपनी आँखों देखा है कि रमा को खुद चलने का कितना ज़्यादा शौक था। घर के पास वाली सीढ़ियों पर वह कितनी बार चढ़ती और उतरती रहती थी? लेकिन जब नौकर ने उसको अपनी गोद में उठाना शुरू किया, तो गोद में चढ़ने वाले उसके पैर हरामखोर बन गए। उसने अपने पैरों चलने का आनन्द और शक्ति दोनों गँवा दिए! उसके पैरों के तलुए मुलायम बन गए। उसको भी इस बात का अन्दाज़ हो गया कि नौकर की गोद में चढ़ने में कोई बड़प्पन है। इसके कारण तन के साथ उसका मन भी हरामी बन गया। बाद में तो घर में रहते हुए भी वह कहती: 'दोद में लो, दोद में लो।' उसकी इस आदत को छुड़ाने में उसको कितनी बार रोना पड़ता था? और यह काम हमारे लिए भी कितना कठिन हो गया था?'

चम्पा की माँ : 'बहन बात तो सच है।'

इन्दु : 'हमको एक बार का अनुभव हो चुका था, फिर भी गंगा और नटवर तो वैसे ही गोद-पसन्द बन चुके थे। रमा के मामले में हमको इससे होने वाली हानि का थोड़ा बहुत पता तो चल गया था, फिर भी अपने पड़ोसियों की देखा देखी हमारे घर में भी नौकरों की शरण ज्यों-की-त्यों बनी रही।

हम पर काम-काज का कुछ बोझ अधिक बढ़ा। हमने माना कि अगर नौकर बालकों को सँभाल लेंगे, तो हम अपना काम कुछ अधिक और अच्छा कर सकेंगी। इस विचार से हमने गंगा और नटवर को नौकरों के हाथों में अधिक रहने दिया। नौकरों को तो अपना सारा काम समय पर पूरा करना होता ही है। जब वे बच्चों का मन देखकर उनके पीछे-पीछे चलते हैं, तो हम ही उनको कहते हैं: 'इनके पीछे तुम अपना समय क्यों बरबाद कर रहे हो?' ऐसी हालत में नौकर को तो बालक को अपनी गोद में लिए-लिए ही सारे काम करने होते हैं। इस कारण बालक को एक ग़लत आदत पड़ जाती है, और बालक इसी को अपना एक वैभव मानने लगता है। इस तरह हमारे ये बालक भी इस वैभव के दास बने। ऐसी स्थिति में यदि नौकर उनको अपनी गोद में न उठाएँ, तो सिवाय रोने के वे और कर ही क्या सकते हैं? फिर अपने बालक का रोना सुनकर हम नौकर पर नाराज़ होते ही हैं। इस तरह हमारे बालक गोद-पसन्द बन जाते हैं। हमारे इन बालकों का लालन-पालन भी इसी रीति से हुआ था, और इसी के फलस्वरूप ये ग़ुलाम बने थे'

चम्पा की माँ : 'इन्दुबहन, बात तो सच ही है। और असल में हुआ भी यही था।'

इन्दु : 'इसके बाद हमको नौकरों से छुट्टी मिली, और नौकर हमारे बालकों से अलग हुए। आज चम्पा को गोद में उठाने वाला कोई है नहीं। हमने भी बचपन से उसको जहाँ, जितना चलना हो, चलने ही दिया है, इसलिए वह चलने की शौक़ीन बन गई है। दूसरे बालकों को गोद में चढ़ा देखकर चम्पा कभी-कभी रूठती और मचलती है, पर जब हम उसको गोद में उठाते नहीं हैं, तो थोड़ी देर तक मचलने के बाद वह खुद चुप हो जाती है। कभी-कभी तो जब कोई उसको अपनी गोद में उठा लेते हैं, तो वह 'उतारो', 'उतारो' की पुकार मचाकर अपने हाथ-पैर हिलाने लगती है। अकसर जब जल्दी के कारण हमको तेज गति से चलना होता है, तो हम उसको गोद में उठाने से पहले सारी बात समझा देते हैं, इसलिए ऐसी स्थिति में गोद में सवार होना उसको बन्धन-रूप नहीं लगता। चम्पा तो गोद में चढ़ने की आदत से बच गई है। क्योंकि अब अनुभव से हम सब कुछ सीख चुके हैं, और

घर में नौकर भी रहा नहीं है। अब तो नौकर के आने पर भी हम चम्पा को उसकी गोद में कभी चढ़ने ही नहीं देंगे। बचपन में बालक चलने की हलचल करके मन को आनन्द के साथ-साथ अपने शरीर को व्यायाम का लाभ देता है। अपने जिन मजबूत पैरों से हम इतने चल-फिर सकते हैं, उन पैरों को बचपन में इसकी खासी तैयारी करनी होती है, और यह तैयारी तो चलकर ही की जा सकती है। इसके लिए बालक को चलने की पूरी स्वतंत्रता चाहिए। लम्बी-चौड़ी जगह भी चाहिए। जहाँ-जहाँ माता पिता बालकों को खुद चलने देने के बदले उनको गोद में लेकर घूमते हैं, और इसको बालक के प्रति अपना प्रेम समझते हैं, वहाँ-वहाँ बालक को इससे नुक़सान ही होता है। किसी विशेष निमित्त से, जैसे, बीमारी की हालत में, या स्टेशन पहुँचने की जल्दी के कारण बालक को गोद में उठा लेने की बात एक अलग बात है।'

चम्पा की माँ : 'इन्दुबहन, आप सच ही कह रही हैं।'

अन्धविश्वास की शिक्षा

घर के छप्पर पर बैठा पण्डुक बोल रहा है।

माँ कहती हैं : 'सुनते हो ? हमारे छप्पर पर पण्डुक बोल रहा है। रोज रोज पण्डुक का बोलना अच्छा नहीं होता।'

पिताजी पत्थर मार कर पण्डुक को उड़ा देते हैं। छोटा बच्चा देखता रहता है।

गाँव से लौटकर पिताजी कहते हैं : 'बस एक धरम धक्का ही लगा। मैं जानता ही था कि काम बनेगा नहीं, क्योंकि सामने एक विधवा मिल गई थी।'

रात पड़ी। खूसट बोलने लगा। माँ बोली : 'अररर ! यह खूसट तो न जाने क्या बोल रहा है। पता नहीं, कल का दिन कैसा बीतेगा ? लगता है, यह खूसट तो हमारे पीछे ही पड़ गया है।'

कुत्तों को भगाती हुई पड़ोसिन कह रही है : 'अरे, इन कुत्तों को तो देखो। ये किस बुरी तरह रो रहे हैं। जरूर ही कोई अनहोनी होने वाली है।'

बुआजी बोली : 'आज तो यह तवा हँसा। जरूर ही कोई मेहमान आएँगे।'

रात ब्यालू के बाद गली की बहनें इकट्ठा होती हैं। वे नितनई गप हाँकती रहती हैं। 'ना, मैया ! जहाँ ऐसे घेरे बने रहते हैं, उनमें तो बालकों को अपने पैर नहीं रखने देने चाहिए।' 'पता नहीं अब मेरा यह घर कैसा हो गया है। इसमें किसी का शरीर स्वस्थ रहता ही नहीं है।' इस केसर बहू की नजर तो बहुत ही कड़ुई है। आज मैं अपने घर में बैठी खीर खा रही थी,

तभी वह अचानक आ पहुँची। बोली : 'बहन ! खीर तो बहुत अच्छी बनी है।' बस, इतना कह कर वह तो चली गई, पर उस राँड की नजर को क्या कहा जाए ? मैं तो उलटियाँ कर-करके हैरान हो गई।'

घर में माँ-बाप अपने बच्चों से कहते हैं, 'देखो, इस समय गधे का नाम मत लो।' 'अरे आज सबेरे-सबेरे तुमने इस निपानिया गाँव का नाम कहाँ ले लिया ! अब शाम तक तुम को रोटी नहीं मिलेगी।' 'सुनो रमेश ! शाम के समय उत्तर की तरफ पाँव रख कर क्यों सोए हो ? उठो, खड़े हो जाओ।'

ये सब निरे अन्धविश्वास हैं। कोरमकोर वहम हैं। अपने आस-पास और अपने बीच रहने वाले बालकों को हम हर घड़ी इन वहमों का ही पान कराते रहते हैं। ये वहम हमको अपने माता-पिता से मिले हैं। हम इन्हीं अन्धविश्वासों अथवा वहमों को पीढ़ी-दर-पीढ़ी, जाने-अनजाने, अपने बालकों में सींचते रहते हैं। हमने अपने माता-पिता से पूछा : 'अगर कोई साँप हमारा रास्ता काट कर चला जाए तो उससे हमको नुकसान क्यों होता है ?' हमको जवाब मिला : 'तुम इसमें क्या समझो ? अपने बड़े-बूढ़े जो कह गए सो यों ही नहीं कह गए !' बालक हमसे पूछता है : 'पैर हिलाने से माँ क्यों मर जाती हैं ?' जवाब में हम उससे कहते है : 'चुप रहो। बहुत अकल मत बघारो। तुम इतना भी नहीं समझते कि पैर नहीं हिलाने चाहिए !'

इस सबका नतीजा यह निकला कि हम अन्धविश्वासी बन गए। आगे हमारे बालक भी अन्धविश्वासी बनेंगे और उनके बालक भी अन्धविश्वासी ही बनेंगे। यों, पीढ़ी-दर-पीढ़ी अन्धविश्वास फैलता रहेगा।

अन्धविश्वासी आदमी डरपोक होता है। 'दाहिनी आँख फड़की ! हे भगवान ! पता नहीं, अब क्या होगा ?' 'देखो यह घी फर्श पर फैल गया ! पता नहीं अब क्या मुसीबत खड़ी होगी ?' 'सुनो, सियार रो रहे हैं कहीं आज गाँव में सेंध तो नहीं न लगेगी ?' 'अगर मैं रात में दही जमाऊँगी तो कहीं मेरी गाय सूख तो नहीं न जाएगी ?' ये सारे अन्धविश्वास मनुष्य के विचारों में घुले पड़े हैं।

मन में अन्धविश्वास की बात आते ही अन्धविश्वासी मन डर जाता है। किसी अमंगल की चिन्ता से वह काँप उठता है। भयभीत होकर पसीने से नहा लेता है। कुछ ही क्षणों की अपनी कल्पना में वह न जाने कितने दुखों का अनुभव कर लेता है।

अन्धविश्वासी वह है जो मानकर चलता है। बिना प्रमाण माँगे ही हर किसी बात को मान लेता है। अन्धविश्वासी को अपने अन्धविश्वासों का त्याग करना चाहिए। जैसे, हम कहते हैं : 'याद रखो, अगर तुमने हनुमान जी को फूलों की माला नहीं पहनाई, तो वे तुम पर नाराज हो जाएँगे' 'तुम भूतनी को लपसी चढ़ाने की मन्नत नहीं मानोगी, तो भूतनी तुमको दुख देगी।' 'मैंने अपना चूल्हा ठण्डा नहीं किया था, इसलिए शीतला माता मुझ पर नाराज हो गई, और मेरे बेटे को चेचक निकल आई !' अन्धविश्वासी आदमी इन सब बातों को सच मानेगा और कहेगा : 'हाँ, ये सब तो सच्ची बातें हैं।'

अन्धविश्वासी मनुष्य का मतलब है, निर्मल तर्क बुद्धि को न मानने वाला आदमी। अन्धविश्वासी आदमी कभी यह पूछता ही नहीं कि ऐसा क्यों होता है ? वह कभी यह कहता ही नहीं कि मैं तो यह सब तभी मानूँगा, जब मुझ को इनका भरोसा हो जाएगा।

अविश्वासी मनुष्य यानी अशास्त्रीय मनवाला मनुष्य। वह कभी यह कहता ही नहीं कि 'आप कुछ भी क्यों न कहें, मुझको तो खुद ही इसकी छान-बीन कर लेनी होगी। जब तक बात मेरी समझ में नहीं आएगी, तब तक मैं तो तटस्थ रहना ही पसन्द करूंगा।' अन्धविश्वासी आदमी तो बिना जांच-पड़ताल के ही जादूगर के खेलों में मंत्र-तंत्र के दर्शन करता है, जबकि अन्धविश्वासों से मुक्त आदमी समझ लेता है कि ये सब तो दवा के जोर से या युक्ति-प्रयुक्ति से या हाथ की चालाकी से होने वाले काम हैं।

अन्धविश्वासी मन यानी अन्ध श्रद्धावाला मन। इसी कारण अन्धविश्वासी आदमी शास्त्र-वचन को अटल वचन मानता है। वह देवों और परियों की बातों को न माननेवालों को नास्तिक समझता है, और भूत-प्रेत आदि की कहानियों का सही भेद जानने से इनकार करता है।

गिजुभाई-ग्रन्थमाला-4
माँ-बाप बनना कठिन है
गिजुभाई

गिजुभाई-ग्रंथमाला–4

माँ-बाप बनना कठिन है

लेखक
गिजुभाई

अनुवाद
काशिनाथ त्रिवेदी

मोण्टीसोरी-बाल-शिक्षण-समिति,
राजलदेसर (चूरू) 331802

प्रकाशक :
मोण्टीसोरी-बाल-शिक्षण-समिति,
राजलदेसर

आर्थिक सहयोग :
श्री गुलाबचंद महेन्द्रकुमार चण्डालिया
बम्बई

प्रकाशन-वर्ष : 1987
प्रतियां : 1,100
मूल्य : आठ रुपये मात्र

मुद्रक :
सांखला प्रिंटर्स,
सुगन निवास, बीकानेर

प्रकाशकीय

हमारे साथियों ने जब यहाँ पर सन् 1954 में अभिनव बालभारती नामक संस्था स्थापित की थी, तभी मेरे जेहन में बाल-शिक्षण के साथ ही साथ अध्यापकों को प्रशिक्षण देने का विचार भी उठ रहा था, बल्कि अभिभावकों द्वारा प्रशिक्षण लेने का विचार भी मेरे मन में बहुत प्रबल था। मैं सौभाग्यशाली रहा कि एक बार कलकत्ते में मुझे प्रख्यात बाल-शिक्षाविद् स्व. के. यू. भामरा से प्रशिक्षण लेने का अवसर मिला, सन् 1958-59 में।

उस प्रशिक्षण ने मेरे इस चिंतन की दिशा को और भी पुष्ट कर दिया कि बाल-शिक्षण के लिए अध्यापकों का ही नहीं, माता-पिताओं का भी नजरिया बदलना जरूरी है। मेरे आग्रह पर स्व. के. यू. भामरा यहाँ पधारे और सन् 1962 में उन्होंने मोण्टीसोरी प्रशिक्षण का काम शुरू किया। आज 25 वर्षों से अध्यापकों के शिक्षण-प्रशिक्षण का कार्यक्रम यहाँ जारी है और अब तक लगभग 200 अध्यापक प्रशिक्षण का लाभ हासिल कर चुके हैं।

मैं अब भी बराबर अनुभव करता रहा हूँ कि अध्यापक बनने के लिए मोण्टीसोरी-शिक्षण का प्रशिक्षण लेना एक बात है, और बच्चों के माता–पिता बनने के लिए प्रशिक्षण लेना एक अलग अहमियत रखता है। मेरी पत्नी और दोनों पुत्रियों ने महज इसी इरादे से प्रशिक्षण लिया था। मैं चाहता हूँ कि अभिभावकों को इस दिशा में प्रेरित किया जाना जरूरी है। इसी इरादे से पिछले दिनों हमने संस्था में 'अभिभावकत्व-शिक्षण' पर एक संगोष्ठी भी आयोजित की थी। संगोष्ठी में बाल-शिक्षण के अछूते पक्षों पर तो रोशनी डाली ही गई, संस्था के लिए एक सुझाव भी सामने आया कि माता-पिता की शिक्षा के लिए शैक्षिक-साहित्य प्रकाशित कराया जाए। हमने इसे

स्वीकार किया, और पहला कदम यह उठाना जरूरी समझा कि देश के महान बाल-शिक्षाविद् स्व. गिजुभाई बधेका की गुजराती भाषा में लिखी हुई पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद करवाकर पुस्तकाकार प्रकाशित करें। इस दिशा में इंदौर के महान गांधीवादी चिंतक एवं मध्य भारत के प्रथम शिक्षामन्त्री श्री काशिनाथ त्रिवेदी का हमें अभूतपूर्व सहयोग एवं प्रोत्साहन मिला। स्व. गिजुभाई की अनेक पुस्तकों का वे सन् 1932-34 के कार्यकाल में ही अनुवाद कर चुके हैं, और शेष का भी अनुवाद करने का उनका संकल्प है। इसी दिशा में मुझे 'शिविरा-पत्रिका' के संपादकीय सहकर्मी श्री रामनरेश सोनी का भी सहयोग मिला है।

पुस्तक-प्रकाशन का काम अपने आप में बहुत कठिन होता है, विशेषतया अर्थ के अभाव में तो असम्भव प्रायः हो जाता है। पर हमारा सौभाग्य है कि मेरे अनुरोध को यशस्वी दानदाताओं ने स्वीकार किया, और प्रत्येक पुस्तक को अकेले अपने ही आर्थिक-सहयोग से छापने का भार वहन किया है।

प्रस्तुत पुस्तक 'माँ-बाप बनना कठिन है' के प्रकाशन का व्यय भार बम्बई के हमारे मित्र तथा बाल शिक्षा में गहन रुचि रखने वाले श्री गुलाबचन्द महेन्द्र कुमार चण्डालिया ने सहर्ष वहन किया है। अभिभावकों की शिक्षा की बड़ी ही रोचक तथा उपयोगी पुस्तक के प्रकाशन के माध्यम बने हैं वे। इस योगदान के लिए संस्था की ओर से उनका कोटिशः आभार।

इस पुस्तक की 'भूमिका' के लिए जाने-माने शिक्षाविद् प्रो. दिवाकर शास्त्री का और सम्पादकीय निवेदन के लिए श्रद्धेय काशिनाथ त्रिवेदी का मैं हार्दिक आभार मानता हूँ। काशिनाथजी ने तो गिजुभाई की समस्त गुजराती पुस्तकों को ग्रन्थमाला के रूप में प्रकाशित करने हेतु दक्षिणामूर्ति-बालमंदिर, भावनगर की आचार्या श्रद्धेय विमलाबहन बधेका से भी हमारे लिए पत्राचार करके उनकी स्वीकृति प्राप्त की है। इसके लिए भी हम उनके आभारी हैं।

मोण्टीसोरी-बाल-शिक्षण-समिति —कुन्दन बैद
राजलदेसर

संपादक का निवेदन

हिन्दी में गिजुभाई-ग्रंथमाला का अवतरण

अपने जन्म से पहले अपनी माँ के गर्भ में, और जन्म के बाद अपने माता-पिता और परिवार के बीच, हमारे निर्दोष और निरीह बच्चों को हमारी ही अपनी नादानी, नासमझी और कमजोरियों के कारण शरीर और मन से जुड़े जो अनगिनत दुःख निरन्तर भोगने पड़ते हैं, जो उपेक्षा, जो अपमान, जो तिरस्कार, जो मार-पीट और डाँट-फटकार उनको बराबर सहनी पड़ती है, यदि कोई माई का लाल इन सब पर एक लम्बी दर्द-भरी कहानी लिखे, तो निश्चय ही वह कहानी, हम में से जो भी संवेदनशील हैं, और सहृदय हैं, उनको रुलाये बिना रहेगी ही नहीं। अपने ही बालकों को हमने ही तन-मन के जितने दुःख दिए हैं, चलते-फिरते और उठते-बैठते हमनेउन को जितना मारा-पीटा, रुलाया, सताया और दुरदुराया है, उसकी तो कोई सीमा रही ही नहीं है। इन सबकी तुलना में हमारे घरों में बालकों के सही प्यार-दुलार का पलड़ा प्रायः हलका ही रहता रहा है।

ऐसे अनगिनत दुखी-दरदी बालकों के बीच उनके मसीहा बनकर काम करने वाले स्वर्गीय गिजुभाई बधेका की अमृत वर्षा करने वाली लेखनी से लिखी गई, और माता-पिताओं और शिक्षक-शिक्षिकाओं के लिए वरदान-रूप बनी हुई छोटी-बड़ी गुजराती पुस्तकों के हिन्दी अनुवाद इस गिजुभाई-ग्रंथमाला के नाम से प्रकाशित करने का सुयोग और सौभाग्य बाल-शिक्षा के काम में लगी हमारी एक छोटी-सी शिक्षा-संस्था को मिला है, इसकी बहुत ही गहरी प्रसन्नता और धन्यता हमारे मनः-प्राण में रम रही है। हमको लगता है कि इससे अधिक पवित्र और पावन काम हमारे हिस्से न पहले कभी आया, और न आगे कभी आ पाएगा। हम अपनी इस कृतार्थता को किन शब्दों में और कैसे व्यक्त करें, इसको हम समझ नहीं पा रहे हैं। हम नम्रतापूर्वक मानते हैं

कि परम मंगलमय प्रभु की परम सुख देने वाली आन्तरिक प्रेरणा का ही यह एक मधुर और सुखद फल है। इसको लोकात्मा रूपी और घट-घट-व्यापी प्रभु के चरणों में सादर, सविनय समर्पित करके हम धन्य हो लेना चाहते हैं।

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पयेत् !

क्राउन सोलह पेजी आकार के कोई तीन हजार की पृष्ठ संख्या वाली इस गिजुभाई-ग्रंथमाला में गिजुभाई की जिन 15 पुस्तकों के हिंदी अनुवाद प्रकाशित करने की योजना बनी है, उनमें पुस्तकें माता-पिताओं के लिए हैं। चारों अपने ढंग की अनोखी और मार्गदर्शक पुस्तकें हैं। घरों में बालकों के जीवन को स्वस्थ, सुखी और समृद्ध बनाने की प्रेरक और मार्मिक चर्चा इन पुस्तकों की अपनी विशेषता है। ये हैं :

1. माता-पिता से
2. मां-बाप बनना कठिन है
3. माता-पिता के प्रश्न, और
4. माँ-बापों की माथा पच्ची।

बाकी ग्यारह पुस्तकों में बाल-जीवन और बाल-शिक्षण के विविध अंगों की विशद चर्चा की गई है। इनके नाम यों हैं :

1. मोण्टीसोरी-पद्धति
2. बाल-शिक्षण, जैसा मैं समझ पाया
3. प्राथमिक शाला में शिक्षा-पद्धतियां
4. प्राथमिक शाला में शिक्षक
5. प्राथमिक शाला में भाषा-शिक्षा
6. प्राथमिक शाला में चिट्ठी-वाचन
7. प्राथमिक शाला में कला-कारीगरी की शिक्षा, भाग 1-2
8. दिवास्वप्न
9. यदि आप शिक्षक हैं
10. चलते-फिरते
11. कथा-कहानी का शास्त्र, भाग 1-2

इनमें 'मोण्टीसोरी पद्धति', 'दिवास्वप्न' और 'कथा-कहानी का शास्त्र' ये तीन पुस्तकें अपनी विलक्षणता और मौलिकता के कारण शिक्षा-जगत् के लिए गिजुभाई की अपनी अनमोल और अमर देन बनी हैं। इनमें बाल-देवता के पुजारी और बाल-शिक्षक गिजुभाई ने बहुत ही गहराई में जाकर अपनी आत्मा को उंडेला है। बाल-जीवन और बाल-शिक्षण के मर्म को समझने में ये अपने पाठकों की बहुत मदद करती हैं। बार-बार पढ़ने, पीने, पचाने और अपनाने लायक भरपूर सामग्री इनमें भरी पड़ी है। ये अपने पाठकों को बाल-जीवन की गहराइयों में ले जाती हैं, और बाल-जीवन के मर्म को समझने में पग-पग पर उनकी सहायता करती हैं।

गिजुभाई की इन पन्द्रह रचनाओं में से केवल दो रचनाएं, 'दिवास्वप्न' और 'प्राथमिक शाला में भाषा-शिक्षा' सन् 1934 में पहली बार हिन्दी में प्रकाशित हुई थीं। शेष सब रचनाएँ अब सन् 1987 में क्रम-क्रम से पुस्तक के रूप में प्रकाशित होने वाली हैं। पचास से भी अधिक वर्षों तक हिन्दी-भाषी जनता का हमारा शिक्षा-जगत् इन पुस्तकों के प्रकाशन से वंचित बना रहा। न गिजुभाई का जन्म-शताब्दी-वर्ष आता, और न यह पावन अनुष्ठान हमारे संयुक्त पुरुषार्थ का एक निमित्त बनता। 15 नवम्बर, 1984 को शुरू हुआ गिजुभाई का जन्म-शताब्दी वर्ष 15 नवम्बर, 1985 को पूरा हो गया। किन्तु गुजरात की बाल-शिक्षा-संस्थाओं ने और बाल-शिक्षा-प्रेमी भाई-बहनों ने गुजरात की सरकार के साथ जुड़कर जन्म-शताब्दी-वर्ष की अवधि 15 नवम्बर, 86 तक बढ़ाई, और गिजुभाई के जीवन और कार्य को उसके विविध रूपों में जानने और समझने की एक नई लहर गुजरात-भर में उठ खड़ी हुई। गुजरात के पड़ौसी के नाते उस लहर ने राजस्थान, मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश के हम कुछ साथियों को भी प्रेरित और प्रभावित किया। फलस्वरूप गिजुभाई-ग्रंथमाला को हिन्दी में प्रकाशित करने का शुभ संकल्प राजस्थान के राजलदेसर नगर के बाल-शिक्षा-प्रेमी नागरिक भाई श्री कुन्दन चंद के मन में जागा, और उन्होंने इस ग्रंथमाला को हिन्दी-भाषी जगत् के हाथों में सौंपने का बीड़ा उठा लिया।

हमको विश्वास है कि भारत का हिन्दी-भाषी जगत् विशेषकर उसका हिन्दी-भाषी शिक्षा-जगत्, अपने बीच इस गिजुभाई-ग्रंथमाला का भरपूर

स्वागत,मुक्त और प्रसन्न मन से करेगा, और इससे प्रेरणा लेकर अपने क्षेत्र के बाल-जीवन और बाल-शिक्षण को सब प्रकार से समृद्ध बनाने के पुण्य-पावन कार्य में अपने तन-मन-धन की तल्लीनता के साथ जुट जाना पसन्द करेगा। हिन्दी में गिजुभाई-ग्रन्थमाला के अवतरण की इससे अधिक सार्थकता और क्या हो सकती है ?

अपने जीवन-काल में गिजुभाई ने अपनी रचनाओं को अपनी कमाई का साधन बनाने की बात सोची ही नहीं। अपने चिन्तन और लेखन का यह नैवेद्य भक्तिभावपूर्वक जनता जनार्दन को समर्पित करके उन्होंने जिस धन्यता का वरण किया, वह उनकी जीवन-साधना के अनुरूप ही रहा। गिजुभाई के इन पदचिह्नों का अनुसरण करके हमने भी अपनी गिजुभाई-ग्रंथमाला को व्यावसायिकता के स्पर्श से मुक्त रखा है, और ग्रंथमाला की सब पुस्तकों को उनके लागत मूल्य में ही पाठकों तक पहुँचाने का शुभ निश्चय किया है।

बीकानेर, राजस्थान, के हमारे बाल-शिक्षा-प्रेमी साथी, जाने-माने शिक्षाविद् और गिजुभाई के परम प्रशंसक श्री रामनरेश सोनी इस ग्रन्थमाला के अनुष्ठान को सफल बनाने में हमारे साथ सक्रिय रूप से जुड़ गए हैं, इससे हमारा भार बहुत हलका हो गया है।

हमको खुशी है कि हमारे साथी श्री कुन्दन बैद इस ग्रन्थमाला की 15 पुस्तकों के लिए पन्द्रह ऐसे उदार और सहृदय दाताओं की खोज में लगे हैं, जो इनमें से एक-एक पुस्तक के प्रकाशन का सारा खर्च स्वयं उठा लेने को तैयार हों। इसमें भी पहल श्री कुन्दन बैद ने ही की है। त्याग और तप की बेल तो ऐसे ही खाद-पानी से फूलती-फलती रही है !

—काशिनाथ त्रिवेदी

गांव—पीपल्याराव,
इन्दौर—452 001

दूसरे संस्करण का निवेदन
(गुजराती)

यह पुस्तक स्वर्गीय श्री गिजुभाई की शिक्षा-विषयक पुस्तकों में से एक है। श्री दक्षिणामूर्ति प्रकाशन मन्दिर के बन्द हो जाने के कारण जो कुछ पुस्तकें अप्राप्य हो चुकी थीं, उनमें से एक यह भी है। अब हमने यह निश्चय किया है कि स्वर्गीय श्री गिजुभाई की शिक्षा-सम्बन्धी और शिक्षकों तथा माता-पिताओं के लिए उपयोगी सब पुस्तकों को क्रम-क्रम से फिर प्रकाशित करें।

जिस ज़माने में यह पुस्तक लिखी गई थी, उसमें और आज के ज़माने में बालकों के साथ के बरताव की दृष्टि में, कोई बड़ा परिवर्तन हुआ लगता नहीं है। शिक्षा-विषयक चर्चाएँ बहुत होती रहती होंगी, और शिक्षा-सम्बन्धी नई पुस्तकें भी लिखी जाती होंगी। लेकिन अभी तक ऐसी पुस्तकों का प्रकाशन हुआ देखा नहीं है, जिनमें माता-पिताओं के लिए रोज़-रोज़ के उनके व्यवहार में बालकों के साथ काम करने की बातें सीधी और सरल भाषा में प्रभावकारी ढंग से लिखी गई हों।

मनोविज्ञान-सम्बन्धी कठिन और दुर्बोध पुस्तकों से आम जनता अपने लिए कोई प्रभावशाली मार्गदर्शन प्राप्त नहीं कर सकती। बालकों के बहुविध व्यवहारों को ध्यान में रखकर उनके साथ काम करने के मामले में माता-पिता के सामने स्पष्ट और युक्ति-युक्त सुझाव रखने वाली पुस्तकों की विशेष आवश्यकता है। प्रसंग, भाषा और लेखन की दृष्टि से लोकभोग्य और हृदयस्पर्शी शैली में इस सारी चर्चा को प्रस्तुत करने का काम, मेरे नम्र

विचार में, स्वर्गीय श्री गिजुभाई के अतिरिक्त किसी और ने किया हो, इसकी कोई जानकारी मुझ को नहीं है।

मैं अपनी इस स्पष्ट भावना के साथ इस पुस्तक को प्रकाशित करने की आवश्यकता का अनुभव कर रहा हूँ कि आज अपने देश की सर्वांगीण पुनर्रचना के काम में इस प्रकार की पुस्तकें बहुत ही उपकारक बन सकती हैं। आशा है, मेरी यह इच्छा पूरी होगी।

मार्च, 1956

—नरेन्द्र बधेका

भूमिका

अमृत-दृष्टि की तलाश

व्यक्ति एवं समाज के विकास के एक कारक के रूप में शिक्षा को सभी स्वीकारते हैं। जो विचारक शिक्षा के लिये संगठित विद्यालय व्यवस्था की उपयोगिता को नकारने से सहमत नहीं हैं वे भी इस बात को तो मानते हैं कि विद्यालय शिक्षा का एकमात्र अभिकर्ता नहीं है। शिक्षा के अनेक अभिकर्ताओं में से एक महत्वपूर्ण अभिकर्ता परिवार है। व्यक्तित्व के निर्माण के लिये जीवन के सर्वाधिक महत्वपूर्ण काल में शिक्षा का दायित्व बहुत कुछ परिवार पर आता है। कहा गया है कि पहली शिक्षक माँ होती है। इसमें यह जोड़ना होगा कि पहले शिक्षक माता-पिता होते हैं। परिवार के अन्य सदस्य भी अहम भूमिका निबाहते हैं किन्तु अन्य सदस्यों का दायित्व माता-पिता के दायित्व के विचार में समाहित हो जाता है। माता-पिता ही परिवार के अन्य बालिग सदस्यों के रूप में भी होते हैं और छोटे सदस्य माता-पिता से जो ग्रहण करते हैं वह ही अपने सम-आयु सदस्यों के साथ संसर्ग में व्यवहरित करते हैं।

समाज के उपयोगी सदस्य के रूप में व्यक्ति का विकास करने में शिक्षा का दायित्व उजागर है। किसी भी व्यवसाय या वृत्ति के लिये आवश्यक शिक्षण व प्रशिक्षण का आयोजन शिक्षा व्यवस्था की जिम्मेदारी माना जाता है। चाहे इंजीनियर का कार्य हो, चाहे डॉक्टर का या फिर वकील का, व्यक्ति को दक्षता प्राप्त करने के लिये लम्बी अवधि की व्यवस्थित शिक्षा एवं प्रशिक्षण प्राप्त करने होते हैं। इसी प्रकार शिक्षक के लिये भी प्रशिक्षित होना आवश्यक माना गया है। आश्चर्य की बात है कि जिन माता-पिता को शिशु का प्रथम शिक्षक माना जाता है उनके लिये भी अपने दायित्व को ठीक प्रकार

से निबाहने के लिये किसी प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता है ऐसा सुस्पष्ट नहीं मालूम होता।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि जनक दायित्व अथवा बाल अवस्था में अनुभवों के व्यक्तित्व पर पड़ने वाले प्रभाव अध्ययन से अछूते हैं अथवा कि इनका महत्व स्वीकार नहीं किया गया है।

बाल मनोविज्ञान के क्षेत्र में व्यापक अध्ययन हुआ है। बाल मनोविज्ञान एवं बाल विकास के सम्बन्ध में अनेक संधारणाएं, प्रतिपादित हुई हैं और ये विषय अध्ययन एवं अध्यापन के विशिष्ट क्षेत्र रहे हैं। बाल विकास के सम्बन्ध में माता-पिता की भूमिका के बारे में भी अलग से अध्ययन हुआ है।

किन्तु उपरोक्त अध्ययन एवं विचारणा एक छोटे समुदाय तक ही सीमित रहे हैं और उनकी अवधारणाएं एवं प्रतिपादन केवल विद्वत् समाज अथवा शिक्षा के क्षेत्र में औपचारिक रूप से कार्यरत व्यक्तियों के विचारों एवं कार्यों को ही प्रभावित कर सके हैं।

इसके अलावा अधिकांश अध्ययन पश्चिम की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में हुए हैं। यह ठीक है मनोविज्ञान काल एवं देश की सीमाओं से परे सार्वभौम विज्ञान है किन्तु मानव सम्बन्ध अवश्य ही संस्कृति विशेष के मूल्यों एवं परम्पराओं पर आधारित होते हैं। ऐसी स्थिति में परिवार में माता-पिता का बच्चों के साथ व्यवहार अवश्य ही काल एवं देश निरपेक्ष नहीं हो सकता।

एक बात और है। आजकल इस विचार को प्रमुखता से सामने लाया जा रहा है कि पुरुष प्रधान समाज में समाज के एक बड़े वर्ग, नारी वर्ग, के साथ न्याय नहीं हो पाता है एवं आवश्यकता है कि समाज में इस पुरुष की प्रधानता के तत्व को समाप्त किया जाय। क्या यह भी सच नहीं कि परिवार एवं समाज दोनों ही इस प्रकार चलते हैं जैसे केवल वयस्कों का ही अस्तित्व हो और बालकों का कोई अस्तित्व ही न हो। हमारे सभी व्यवहार मानो बालक के अस्तित्व को ही नकारते हों। यह और भी आश्चर्यजनक लगता है जब हम यह विचार करते हैं कि बालकों के रूप में हम सभी वयस्क उन्हीं कटु अनुभवों से गुजर चुके हैं जिनसे कि बालकों को गुजरना पड़ता है।

आज आवश्यकता है कि प्रत्येक व्यक्ति को बाल-विकास के सम्बन्ध में माता-पिता के दायित्व के बारे में शिक्षित किया जाय। यह शिक्षण बौद्धिक विचारणा के उच्च स्तर पर नहीं किन्तु स्थूल व्यवहार के स्तर पर बोधगम्य होना चाहिए जिससे कि यह न केवल सहज स्वीकार्य ही हो बल्कि आसानी से ग्रहण भी किया जा सके।

भारत में विदेशी शासन के अच्छे और बुरे प्रभावों के बारे में विवाद चलता रहता है किन्तु अवश्य ही लम्बे विदेशी शासन का यह तो प्रभाव हुआ ही है कि हमने एक राष्ट्र के रूप में अपनी अस्मिता खो दी। हमारा अपना सब कुछ हमें क्षुद्र लगने लगा और पश्चिम का सभी कुछ श्रेष्ठ। यदि हमारी अपनी कोई चीज हमें अच्छी लगी भी तो तब ही जबकि वह पश्चिम से अनुमोदित हुई। बाल शिक्षण के बारे में पश्चिम में बहुत विचार एवं कार्य हुआ है और वह सब अवश्य ही महत्वपूर्ण है। उसका अध्ययन एवं विवेचन अवश्य ही उपयोगी एवं आवश्यक है। लेकिन हमारे अपने देश में भी इस क्षेत्र में बहुत कुछ किया गया है। यह हमारी मानसिक दासता का ही परिणाम है कि जबकि हम पश्चिम के विचारों से भलीभाँति अवगत हैं हमारे अपने देश में हुए विचार एवं कार्यों से हम पूरी तरह अनभिज्ञ हैं।

गिजुभाई उन विचारकों में से हैं जिन्होंने बाल-शिक्षण एवं बाल-मनोविज्ञान के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान किया है। उनका रचित साहित्य गुजराती में है और उससे बहुत कम लोगों का परिचय है।

प्रस्तुत पुस्तक में गिजुभाई ने माता-पिता के बच्चों के प्रति दायित्व के बारे में जीवन के उपाख्यानों के आधार पर कुछ सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं। गिजुभाई का तरीका उपदेशात्मक नहीं है। वे उपदेश देने के ढंग पर यह नहीं कहते कि माता-पिता को ऐसा करना चाहिए, ऐसा नहीं करना चाहिए। वे अपने स्वयं के अनुभव में घटित घटनाओं का वर्णन करते हैं, उनका विश्लेषण करते हैं और अपने विश्लेषण के आधार पर निष्कर्ष निकालते हैं कि क्या नहीं

होना चाहिए था और क्या होना चाहिए था। इस सम्बन्ध में उन्होंने अपनी दृष्टि किसी शास्त्रज्ञ की नहीं एक प्रेमल माता-पिता की ही रखी है। इस दृष्टि को उन्होंने बहुत ही सुन्दर नाम दिया है 'अमृत दृष्टि'। वे कहते हैं, 'यह अमृत दृष्टि वृद्धि का, खिलने का, विकास का अनिवार्य नियम है। यह नियम जहाँ प्रवर्तित नहीं होता वहाँ खिलना बंद हो जाता है, संकुचन होता है, शुष्कता आती है और सड़ान शुरू हो जाती है।' वे फिर कहते है, 'बालक अपने घरों में लगाये हुए फूल हैं। वे हमारे बनाये वातावरण एवं हमारे पोषण में पुष्पित हो रहे हैं। वे हमारी नजर के नीचे विकसित हो रहे हैं। हमारी दृष्टि जैसी मीठी अथवा कड़वी होगी वैसे ही बालक होंगे। माली अपने उपवन में असावधानीपूर्वक विचरण करे, फूल देखकर खुश न हो बल्कि यह समझे कि ठीक है फूल उग ही जाते हैं तो उसका उपवन फूलेगा फलेगा नहीं।' वे यह भी कहते हैं, 'यदि हम उनके प्रति अभिमुख न होते हुए अपने में ही सीमित रहेंगे तो बालक कुम्हलाऐंगे, उन्हें हमारी अमृत दृष्टि का पोषण नहीं मिलेगा।'

गिजुभाई की इस कृति का व्यापक प्रचार होना चाहिए। श्री काशिनाथजी त्रिवेदी ने गिजुभाई के साहित्य के अनुवाद एवं प्रसार में बड़ा योगदान दिया है और अपने इस कार्य के रूप अंग के में इस पुस्तक का अनुवाद किया है। इस कृति को सुलभ बनाने के लिये श्री रामनरेश सोनी ने जिस निष्ठा से कार्य किया है वह श्लाघनीय है। मोण्टेसोरी बाल शिक्षण समिति, राजलदेसर एवं श्री कुन्दन बैद ने इस पुस्तक के प्रकाशन का दायित्व अपने पर लिया है—हमें इन सबका आभारी होना चाहिए।

वनस्थली विद्यापीठ **—दिवाकर शास्त्री**
राजस्थान, 304 022

प्रस्तावना

माँ-बाप बनना कठिन है।

1-4-1935, **गिजुभाई**
भावनगर

मेरे साथ क्यों नहीं ?

बातें करते-करते गजाननजी ने पूछा : 'भैया रमणलाल ! तुम्हारे ये बच्चे तुम्हारे साथ पटापट बातें करते हैं। इनको तुमसे जो भी कुछ पूछना होता है, सो ये बेहिचक पूछते हैं। ये तुम्हारे आस-पास कूदते हैं और नाचते हैं। ये तुमको अपनी यह चीज दिखाते हैं, और वह चीज़ दिखाते हैं। लेकिन मेरे बच्चे तो ऐसा कुछ भी नहीं करते। वे न मेरे साथ खुलकर बोलते हैं, और न मुझ से कोई सवाल ही पूछते हैं। वे मुझ को कभी यह नहीं बताते कि वे क्या पढ़ रहे हैं, या क्या लिख रहे हैं, क्या खेल रहे हैं, या कहाँ जा रहे हैं ? भला, इसका कारण क्या है ?'

रमणलाल ने कहा : 'भैया, पूरी जान-पहचान और पूरे साथ-संगाथ के बिना तो सही कारण कैसे बताया जा सकता है। लेकिन जो कुछ मैं देखता हूँ और जानता हूँ, उसके आधार पर तुमसे कुछ बातें कहता हूँ। मुझको लगता है कि इसमें बच्चों का कोई कसूर नहीं है। अगर कोई कसूर है, तो वह तुम्हारा है। कह सकते हैं कि यह कसूर भी एक तरह से नासमझी या नादानी के कारण है।

गजाननजी ने पूछा : 'कैसी नासमझी ? ज़रा खोलकर कहो।'

रमणलाल बोले : 'सुनो, तुमने शुरू से ही अपने बच्चों के साथ घुलने-मिलने की अपनी आदत बनाई नहीं। तुम बड़े अफसर जो ठहरे ! तुम्हारे नौकर-चाकर वग़ैरा भी तुमसे दूर-ही-दूर बने रहते हैं, तुम्हारे मातहत अफसर भी तो तुम से दूर ही रहते हैं। तुम्हारा स्वभाव भी अफसरशाही का है। गम्भीर मुँह बनाकर बैठे रहने का है। लेकिन बच्चों को ऐसा स्वभाव अच्छा नहीं लगता। वे ऐसे आदमी से दूर रहना ही पसन्द करते हैं।'

गजाननजी ने कहा : 'लेकिन वैसे तो मैं उनके साथ बातचीत करता हूँ। उनसे उनके विद्यालय की और खेल-कूद की बातें भी पूछता हूँ। जब कभी वे आपस में झगड़ते हैं, तो मैं बीच में पड़कर उनके झगड़े भी निपटा देता हूँ। ऐसा भी नहीं है कि मैं हमेशा अकड़कर ही बैठा रहता होऊँ। मैं वैसे तो उनका पिता हूँ और वे मेरे बालक हैं।'

रमणलाल बोले : 'लेकिन भैया, यह तो सच है न कि तुम उनसे पूछते-भर हो। तुम उनके न्यायाधीश-भर बन कर रहते हो ? तुम उनके मित्र तो नहीं न बन पाते हो ?

गजाननजी ने पूछा : 'भाई ! तुम कहना क्या चाहते हो ? मित्र बनने का मतलब क्या है ? बाप अपने बच्चों का मित्र कैसे बन सकता है ?'

रमणलाल ने कहा : 'भाई गजाननजी, खूबी तो इसी में है। इसी में बच्चों के दिलों की चाबी पड़ी है। यह चाबी जब हाथ में आ जाती है, तो सब तरह के ताले खुलने लगते हैं। फिर तो बालक हमारे आस-पास घूमना शुरू कर देते हैं। वे हम से तरह-तरह के सवाल पूछते हैं। वे हमारे सामने नाचते-कूदते हैं, और हम उनसे जो भी काम करवाना चाहते हैं, उसको वे तुरत-फुरत और हँसते-खेलते कर देते हैं।'

गजाननजी ने पूछा : 'लेकिन अपने बालकों का मित्र कैसे बना जाए ?'

रमणलाल बोले : 'भैया, ज़रा मेरी बात सुनो। बच्चों के कामों में दिलचस्पी दिखाकर हम उनके मित्र बन सकते हैं। उनसे यह पूछ कर कि वे अपनी कक्षा में किस नम्बर से पास हुए, हम उनके मित्र नहीं बन पाते। लेकिन जब हम उनसे पूछते हैं कि उनको अपना विद्यालय कैसा लगता है ? उनके शिक्षक कौन हैं, और वे कैसे हैं ? शिक्षकों के बारे में उनके अपने विचार क्या हैं ? और, वे अपने शिक्षकों का मजाक किस तरह उड़ते हैं ? जब हम इस तरह बातें उनसे पूछने लगते हैं, तो वे हमारे नज़दीक आने लगते हैं। अपने विद्यालय के बारे में और वहाँ होने वाले कामों के बारे में बालक हम से कुछ-न-कुछ कहना तो चाहते ही हैं। पर जब कोई उनको सुनने वाला नहीं मिलता, तो वे अनमने होकर पड़े रहते हैं। लेकिन जब हम उनकी बातें सुनने

में अपनी दिलचस्पी दिखाते हैं, तो वे भी दिल खोलकर हमको अपने मन की बातें कहने लगते हैं।

गजाननजी ने कहा : 'भैया, आप ठीक कह रहे हैं। आगे मैं भी ऐसा ही करके देखूँगा। लेकिन क्या इस एक ही बात से बालकों का मित्र बना जा सकता है ?'

रमणलाल बोले : 'नहीं, यह तो मैंने एक उदाहरण-भर दिया। बालकों के जीवन में छोटी-बड़ी कई बातें होती रहती हैं। इन सबके बारे में हम उनसे तरह-तरह की बातें कर सकते हैं। बालकों की भी अपनी कुछ रुचि और अरुचि तो होती ही है। कुछ बातें उनको शोभा देती हैं, कुछ नहीं देती। कुछ उनको सुहाती हैं, कुछ नहीं सुहाती। कुछ उनको सुन्दर लगती हैं, कुछ नहीं लगती। ऐसा बहुत-कुछ होता रहता है। इन सबके बारे में उनकी अपनी राय भी होती है। उनकी अपनी पसन्द और नापसन्द के कारण भी होते हैं। अगर इन सब बातों को जानने में हम अपनी रुचि दिखाते हैं, उनके छोटे-बड़े सुख-दुःख में हम उनके प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट करते हैं, उनके छोटे-बड़े कामों की क़द्र करते रहते हैं, तो बालक भी हमको अपना मित्र मानने लगते हैं। तभी उनका दिल पुलकित होता है, और खुलता भी है।

गजाननजी ने कहा : 'भाई रमणलाल जी, तुम्हारी ये बातें मुझको ठीक लग रही हैं। लगता है कि इस विषय में तुम्हारा अनुभव काफ़ी गहरा है।

रमणलाल बोले : 'हाँ, गजाननजी, बात तो अनुभव की ही है। अभी-अभी के मेरे अपने कुछ अनुभव मैं तुम को सुनाता हूँ। मेरा लड़का आजकल सिक्के और डाक-टिकट इकट्ठा कर रहा है। जैसे ही मुझ को इसका पता चला, मैं उसकी मदद करने लगा। अपने मित्रों को पत्र लिखकर मैंने उनके साथ उसकी जान-पहचान करवा दी। जब-जब भी मेरे पास नए डाक-टिकट आते हैं, मैं उनको उसके लिए सँभाल कर रख लेता हूँ। जब मैंने डाक-टिकट इकट्ठा करने की कई तरकीबें उसको समझाईं और सुझाईं, तो उसको बड़ी खुशी हुई। मेरी यह मदद उसको बहुत अच्छी लगी। उसके लिए नए जूते या

नई टोपी ला देने पर उसको जितनी खुशी होती है, उससे कहीं ज्यादा खुशी उसको तब होती है, जब मैं उसके लिए दो-चार नए डाक-टिकट ला देता हूँ। हम बड़ी दिलचस्पी के साथ इन टिकटों की और जिन देशों के ये टिकट होते हैं, उन देशों की बातें करते हैं, इस तरह की बातचीत से बच्चे का मन खिल उठता है। उस समय मुझको उसके असल स्वभाव का पता चलता है, और तभी वह मुझको अधिक पूज्य भाव से देखता है।'

गजाननजी बोले : 'भैया रमणलालजी ! तुम भी तो ग़ज़ब करते हो ! मुझको भी यह सब करना सीख लेना होगा। सचमुच मैं तो अफसर का अफसर ही बना रहा। पुतले की तरह अकड़कर बैठना और रौब दिखाना तो मुझको आता है, लेकिन अपने बच्चों का मित्र बनना नहीं आता। अब तो मुझको भी यह सब सीख लेना होगा।'

रमणलाल ने कहा : 'भाई गजाननजी ! इसमें न आने लायक कोई बात है ही नहीं, और न इसमें कुछ सीखने लायक ही है। लेकिन ज़रूरी यह है कि इन बातों की तरफ हमारा ध्यान जाए। हमारे पड़ौस में एक त्रिवेणी बहन रहती हैं। बच्चों की मित्र बनने की कला वे बहुत अच्छी तरह जानती हैं। वैसे, त्रिवेणी बहन बच्चों के साथ कोई ऐसी-वैसी और हलकी-फुलकी बातें नहीं करती। पर बालकों की रुचि के विषयों को वे बहुत अच्छी तरह जानती हैं। वे स्वयं काफ़ी पढ़ी-लिखी हैं, और चार लोगों में उनकी खासी पूछ-परख भी है। लेकिन जब वे बालकों के साथ बैठती हैं, तो वे उनको ज़रा भी भारी नहीं पड़तीं। उलटे, बच्चों को वे बहुत अच्छी और ऊँची लगती हैं। अपनी बातें वे बच्चों के बीच कुछ इस तरह शुरू करती हैं। 'सुनिए, आप सबको 'बड़े' अच्छे लगते हैं या नहीं ? तो क्या कल हम 'बड़े' बनाएँ ? दाल कौन पीसेंगे ? हरा धनिया कौन तैयार करेंगे ? तलने कौन बैठेंगे ?' कभी कहेंगी : 'इस चूनरी में लगे गोटा-किनारी बहुत क़ीमती हैं न ? जब मैं छोटी थी, तो नीले रंग की चूनरी पहना करती थी। उन दिनों खादी मिलती नहीं थी। इसलिए हम सब मिल में बने कपड़े पहनते थे। तुम्हारी यह चूनरी तो खादी की लगती है। सच है न ?' फिर कभी कहेंगी : 'तुम को

अंधेरे में नींद आती है या नहीं ? जब मैं छोटी थी, तो मुझको अंधेरे में डर लगा करता था। मैं नाहक डरा करती थी। एक दिन मेरे पिताजी ने मुझको अँधेरे में सुला दिया, और उस दिन मुझको डर नहीं लगा। बस, तब से मैं डरना भूल ही गई !

गजाननजी बोले : भई, तुम्हारी ये त्रिवेणी बहन तो बड़े मजे की बातें करती हैं। लगता है कि ये बालकों के स्वभाव को बखूबी जानती हैं।

रमणलाल ने कहा—'भैया गजानन जी ! अगर हम भी इस तरह ध्यान देने लगें, तो धीरे-धीरे हम को भी ऐसी बातें सूझने लगेंगी। चूंकि ऐसे मामलों में हम अन्धे बने रहते हैं, इसलिए सब कुछ गुड़-गोबर हो जाता है।'

गजाननजी बोले : भैया रमणलाल ! आज तो मुझको बहुत सी नई बातें जानने को मिली। इस दृष्टि से तो मैं अपने रमेश और अपनी रमा के साथ तरह तरह की बातें कर सकता हूँ। वे क्रिकेट खेलते है। सिनेमा देखते हैं। छोटी-छोटी कथा-कहानियाँ भी पढ़ते रहते हैं।

रमणलाल ने कहा : —'गजाननजी, बिलकुल ठीक। अब तुम्हारी निगाह सही मुकाम पर पहुँची है। इनमें ही अपने बालकों के साथ बात करने का बहुत मसाला है। इसमें खूबी यह है कि उनसे उनकी ही रुचि के विषयों की चर्चा करते-करते हम उनको कई नई-नई बातें इस तरह बता और समझा सकते हैं कि उनको पता तक न चले। इस प्रकार उपदेश से या हुक्म के ज़रिए जो बातें उनके गले नहीं उतर पातीं, इस तरह की बातों के ज़रिए वे इनमें से बहुत कुछ पा लेते हैं, और पचा भी लेते हैं।'

गजाननजी बोले : 'सच कहते हो, भैया, तुम सच ही कह रहे हो।'

रमणलाल ने कहा : अच्छी बात है, भाई गजाननजी ! आगे जब कभी हम मिलेंगे, तो इसके बारे में और भी सोचेंगे और समझेंगे।'

गजाननजी उठते-उठते बोले : 'भैया रमणलालजी ! तो अब मैं चलूं। नमस्कार !'

•

बाबूजी से कब मिला जा सकेगा ?

लक्ष्मीशंकर डॉक्टर थे। जोरों की प्रैक्टिस चल पड़ी थी। एक घड़ी की फुरसत नहीं मिलती थी। सबेरे जागते ही कोई-न-कोई उनको बुलाने आ ही जाता था। इसी कारण बालकों के जागने से पहले ही उनको नहा-धोकर और दूध पीकर बाहर जाने के लिए तैयार हो जाना पड़ता था।

एक बार घर से बाहर निकलते, तो दिन में 12,12-30 बजे मुश्किल से घर लौट पाते थे। बीमारों के देखते और उनकी बीमारी की जांच करते-करते वे सुबह दस बजे के लगभग जब अपने निजी दवाखाने में पहुँचते, तो वहाँ उनकी राह देखते हुए बैठे बीमार उकता उठते थे।

दस बजे से लेकर बारह बजे तक का समय कब, कैसे बीत जाता था, इसका उनको कोई पता तक न रहता था। ढेर सारा काम सामने खड़ा रहता था।

दिन में बारह, साढ़े बारह बजे के बाद वे घर लौटते। उनके लिए विशेष रूप से गरम-गरम रसोई की व्यवस्था रहती थी। घर के बच्चों को सुबह 11 बजे बाल-मन्दिर जाना होता था।

लक्ष्मीशंकर दिन में दो-ढाई घण्टे आराम करते। लेकिन चार बजे के बाद तो वे अपने घर में शायद ही कभी मिलते थे। फिर बीमारों को देखने के बुलावे शुरू हो जाते। बाद में शाम को 5 बजे से लेकर 6 बजे तक वे अपने दवाखाने के काम में डूब जाते।

लक्ष्मीशंकर को क्लब का बड़ा शौक था। वे बीमार को चाहे भूल जाएं, पर क्लब को कभी भूलते नहीं थे। ब्रिज और बिलियर्ड खेले बिना वे कभी रहते नहीं थे। खेल खेल में रोज रात के 9 तो बज ही जाते थे। लेकिन कभी-कभी 10 भी बज जाया करते थे। लक्ष्मीशंकर रात में सबके अन्त में और देर रात बीते भोजन किया करते थे। रात की रसोई भी उनके लिए ढक कर रखनी होती थी। छोटे बच्चों को नींद आने लगती, और बड़ों को भूख लग जाती, इसलिए घर में रात की रसोई जल्दी ही बन जाती थी।

रोज लक्ष्मीशंकर की यही दिनचर्या रहा करती थी।

लेकिन लक्ष्मीशंकर रविवार के दिन पूरी छुट्टी मनाते थे। उस दिन शाम को भी वे अपना दवाखाना बन्द रखते थे, और क्लब में भी नहीं जाते थे। उस दिन अकसर वे अपनी पत्नी और बच्चों को साथ लेकर कहीं घूमने निकल जाते थे, या घर में ही तरह-तरह के खेल खेला करते थे। अथवा अपना सारा समय मौज-मस्ती में बिताया करते थे।

घर में रमेश सबसे छोटा था। लक्ष्मीशंकर उसको बहुत चाहते थे। वे जब रात घर लौटते, तो रमेश उस समय सो रहा होता, और जब सुबह जल्दी घर से निकल जाते, तब भी वह तो सोता ही होता। इसलिए लक्ष्मीशंकर उसको हमेशा अपने हाथों सहलाया करते, उसको चूमते, और उसकी तोतली, मीठी, अटपटी बातें उसकी मां से सुन-सुनकर संतुष्ट हो लेते। दूसरे छोटे-बड़े बच्चों में से तो कोई सुबह जल्दी जाग जाते, और कोई रात देर से सोते। इसलिए उनको लक्ष्मीशंकर के साथ बात करने और हँसने-बोलने के मौके मिल जाते थे। लक्ष्मीशंकर स्वभाव से ही आनंदी और विनोदी थे। घर में पाँव रखते ही वे अपने दवाखाने को और प्रैक्टिस को बिलकुल भुला देते थे।

रविवार की शाम थी। घर की छत पर बैठे सब मौज मना रहे थे। नन्हा रमेश भी लक्ष्मीशंकर की गोद में बैठा था। तीन साल का हो चुका था। बहुत चालाक था, और बड़ा बातूनी भी था। रोज़ लड़-झगड़कर अपनी बड़ी बहन के साथ मोण्टेसरी बाल-मन्दिर जाया करता था, और बाल-मन्दिर के शिक्षकों का भी प्रिय बन गया था।

उस दिन खेलते-खेलते और अपने बाबूजी की दाढ़ी पर हाथ घुमाते-घुमाते रमेश ने लक्ष्मीशंकर से पूछा : 'बाबूजी ! आप कभी-कभी ही घर क्यों

आते हैं ? सोमवार को हमारा बाल-मन्दिर बन्द रहता है। आप उस दिन सवेरे ही आ जाया करें, तो कितना अच्छा हो ! दिन भर बड़ा मजा रहे।'

लक्ष्मीशंकर बोले : 'अरे पगले ! मै तो रोज़ यहीं रहता हूँ। रोज़ ही रहता हूँ।'

रमेश ने कहा : 'नहीं, नहीं, झूठी बात। आप झूठ बोल रहे हैं। आप यहाँ रहते, तो मै आप को देखता न ?'

लक्ष्मीशंकर बोले : 'रोज़ सुबह जब तुम सो रहे होते हो, मुझको अपने काम के लिए बाहर जाना पड़ता है।'

रमेश : 'इतनी जल्दी जाना पड़ता है ?'

लक्ष्मीशंकर 'हाँ, हाँ। बीमारों को देखने के लिए जल्दी ही जाना होता है।'

रमेश : 'माना, लेकिन जब आप यहाँ रहते हैं, तो वापस घर कब आते हैं ?'

लक्ष्मीशंकर : 'दोपहर में भोजन के लिए आता हूँ, किन्तु उस समय तुम सब अपने विद्यालयों में होते हो।'

रमेश ने माँ की तरफ देखकर पूछा : 'माँ, बाबूजी सच कह रहे हैं ?' माँ कुछ बोली नहीं।

रमेश : 'पता नहीं, क्या बात है ! किसी दिन बाल-मन्दिर न जाऊँ, तो पता चल जाए।'

लक्ष्मीशंकर : 'लेकिन सोमवार को तो तुम्हारी छुट्टी रहती ही है। उस दिन दोपहर को तो मैं घर पर ही रहता हूँ न ?'

रमेश : 'अब मुझको इसका पता लगाना होगा। पिछले सोमवार को तो हम सुबह से शाम तक मौसी के घर रहे थे, और उससे पहले के सोमवार को हमारा बाल-मन्दिर लगा था।'

बीच में माँ बोली : 'और उससे पहले के दो सोमवार आपको कहीं बाहर जाना पड़ा था। रमेश ठीक कह रहा है। लगभग डेढ़-दो महीनों से सोमवार के दिन दोपहर में आप सब कभी इकट्ठा हुए ही नहीं।'

लक्ष्मीशंकर ने अपनी भौंहे चढ़ाकर सिर हिलाया।

रमेश बोला : 'लेकिन आप तो रात में भी नहीं दिखाई पड़ते। चाचाजी, बड़े भैया, बड़ी बहन, हम सब रात में एक साथ ही भोजन करते हैं, लेकिन उस समय भी अपना नहीं रहते।'

माँ ने ताने-भरी आवाज़ में कहा : 'रमेश, तुम्हारे ये बाबूजी तो रोज रात को क्लब जाते हैं, और तुम्हारे सो जाने के बाद ही घर आते हैं, और कभी-कभी तो बहुत ही देर करके आते हैं।'

माँ को क्लब पसन्द नहीं था। प्रैक्टिस के सिलसिले में सारे दिन घर के बाहर रहने की बात तो समझ में आती थी, लेकिन बाद में देर रात तक क्लब में रहना उनको अच्छा नहीं लगता था। मौक़ा देखकर माँ ने तनिक ताना मारा।

लेकिन लक्ष्मीशंकर के लिए तो यह ताना ही काफ़ी था। या यों कहिए कि उनको तो इस ताने की भी ज़रूरत नहीं थी। रमेश का पहला प्रश्न सुनकर ही उन्होंने मन-ही-मन सोचना शुरू कर दिया था। उनकी आँखों के सामने सुबह से रात तक की अपनी सारी दिनचर्या खड़ी हो गई। एक बात स्पष्ट रूप से उनके ध्यान में आ गई। अपने जिन बालकों के लिए वे दिन-भर कमाते रहते हैं, उनसे पूरी तरह मिल भी नहीं पाते। जब रमेश सो रहा होता है, तब घर से बाहर जाना, और जब रात वह सो जाता है, तब घर वापिस आना। उन्होंने अनुभव किया कि सचमुच यह स्थिति बहुत ही शोचनीय और भयंकर है। इसके चलते तो मैं रमेश के उछलते-कूदते बचपन में आनन्द और रस का सिंचन कैसे कर सकता हूँ ? अपने प्यारे बच्चों के साथ खेलने, कूदने और उनके बीच रहकर आनन्द का अनुभव करने के अवसरों को तो में खुद ही खोता रहता हूँ।

रमेश ने फिर अपने बाबूजी की दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए कहा : 'बाबूजी ! आप बोलते क्यों नहीं ? आप कोई अच्छी-सी मजेदार बात सुनाकर हम सबको हँसाइए। पता नहीं, फिर कितने दिनों के बाद आप दिखाई पड़ेंगे !'

रमेश की इस अन्तिम बात का तीर लक्ष्मीशंकर की छाती में अधिक गहरा पैठ गया। उसने उनके दिल को चीर डाला।

लक्ष्मीशंकर बोले : 'सुनो रमेश ! अगर मैं रोज शाम को घर आने लगूं और हम रोज़ ही हँसें, खेलें, तो तुमको कैसा लगेगा ?'

सुनकर रमेश के गाल सुर्ख हो उठे। वह अपने बाबूजी के गले लिपट गया और बोला : 'बाबूजी ! तब तो मैं रोज़ ही आपको एक-एक टिकिया दिया करूँगा।'

सुनकर सब एक साथ ठठा कर हँस पड़े।

भावना से भरा वातावरण इस हँसी से थोड़ा हलका हो गया। लक्ष्मीशंकर ने कहा : 'सुनो रमेश ! आज से मैं क्लब नहीं जाऊँगा। दवाखाने से सीधा घर ही आया करूँगा। बाद में हम सब शाम को घूमने निकला करेंगे। बोलो, और क्या चाहते हो ? रमेश को बहुत अच्छा लगा। रमेश की माँ का मन ही हलका हो उठा।

उस दिन डॉक्टर लक्ष्मीशंकर ने क्लब में जाना बन्द कर दिया। यही नहीं, बल्कि अपनी प्रैक्टिस को बहुत बढ़ाते रहने की बात को भी अपने मन से निकाल दिया, और घर में रहकर अपने बाल-बच्चों के साथ हँसी-खुशी का जीवन बिताते रहने की नई दिशा पकड़ली।

•

आधा दिन बिगड़ गया !

किसी त्योंहार का दिन था। पर आज ठीक याद नहीं आ रहा कि कौनसा त्योंहार था।

त्योंहार के दिन से पहले की रात को मणिलाल के घर में बड़ा उत्साह रहा। बच्चे खुशी से उछलते-कूदते हुए कह रहे थे : 'आहा ! कल बड़ा मजा आएगा !' मणिलाल और रेवा बहन सारी व्यवस्था के बारे में सोच रहे थे।

मणिलाल मेरे पड़ोसी हैं, और एक हिसाब से मेरे मित्र भी हैं।

सवेरा होने पर मणिलाल गाँव में साग-सब्जी खरीदने चले गए। रेवा बहन जागीं, और वे बच्चों को झट-पट नहलाने-धुलाने लगीं। उस दिन रेवा बहन को ढेरों काम निपटाने थे।

पड़ोसिन ने आकर कहा : 'रेवा बहन ! ज़रा मेरे घर चलिए। मेरे भानजे का पेट दुख रहा है। आप उसको देख लीजिए।'

साँप—छछुंदर की-सी हालत हो गई। जाती हैं; तो समय खर्च होता है। नहीं जाती हैं, तो पड़ोसिन को बुरा लगता है !

अपने लल्लू को नहला देने के बाद रेवा बहन भानजे को देख आईं। लौटते समय बड़बड़ाने लगीं'। : 'भला, इसमें मुझको दिखाना ही क्या था ? जरा भी कुछ हुआ कि तुरन्त ही मुझ को बुलाने आ जाते हैं ! हमारे भी अपने-कुछ काम होते हैं या नहीं ? ये किसी वैद्य को क्यों नहीं बुला लेते ?'

रेवा बहन मन-ही-मन झल्ला उठीं। इधर नहाने के बाद लल्लू अपने हाथों धुले कपड़े निकालकर उनको पहन रहा था। लल्लू ने सारी पेटी के सब कपड़ों को उलट-पलट डाला था।

रेवा बहन अपनी बेटी जमुना पर बरस पड़ी। बोली : 'जमुना ! तुम देख नहीं रही हो ! लल्लू ने पेटी के सारे कपड़े उलट-पुलट दिए हैं। लल्ल का बदन पोंछ दो, और सारे कपड़े फिर पेटी में जमा कर रख दो !'

लल्लू रोने लगा। जमुना ने अपना मुँह फुला लिया। वह बोली : 'भला, इसमें मैं क्या करूँ ? लल्लू की तो यही आदत रही है।'

रेवा बहन ने कहा : 'तो फिर कपड़े जिस तरह बिखरे पड़े हैं, उनको उसी तरह पड़े रहने दो। देखो, आज तुम किसी तरह की कोई गड़बड़ मत करो। अभी तुम्हारे पिताजी आएँगे, तो घर की हालत देखकर पूछेंगे : 'यह क्या गड़बड़ मचा रखी है ?'

जमुना अपना सिर नीचा करके झम-फम करती हुई काम करने लगी। रेवा बहन गुस्से में बड़बड़ाती रहीं।

रेवा बहन ने जगदीश को नहाने बुलाया। पर जगदीश पट्टी पर पहाड़े लिख रहा था। वह बोला : 'माँ ! बस, मैं आ ही रहा हूँ !'

रेवा बहन बोली : 'मैं यहां कब तक तुम्हारी बाट देखूं ? अभी तो मुझ को हलुआ बनाना है। साग-सब्ज़ी तो अभी आई ही नहीं है ! तुम जानते हो न कि आज भोजन के बाद हम सब को बगीचे में जाना है।' जगदीश ने कहा : 'लो···मैं आ गया !'

लेकिन तभी रेवा बहन ने जगदीश की पट्टी उठाकर फेंक दी ! पट्टी के टुकड़े-टुकड़े हो गए। जगदीश रोने लगा।

रेवा बहन ने गुस्से में कहा : 'अब रोते क्यों हो ? मैं तो तुमको कब से पुकार रही थी, पर तुम अपनी जगह से हिल ही नहीं रहे थे !'

इतने में बड़ा बेटा दीपक आ पहुँचा। रेवा बहन ने पूछा : 'दीपक ! तुम कहाँ चले गए थे ?'

दीपक बोला : 'माँ ! मैं रामजी भाई से कुछ कहने गया था कि वे आज शाम यहाँ आकर हमको अपने जादू के खेल दिखाएँ।'

रेवा बहन गरज कर बोली : 'इसकी अभी कौन जल्दी पड़ी थी ? यह काम तो दोपहर को भी हो सकता था।'

दीपक बोला : 'लेकिन माँ·········'

'चुप रहो ! तुम्हारे पैर घर में तो टिकते ही नहीं हैं !'

दीपक ने कहा : 'लेकिन माँ······'

रेवा बहन बोली : 'सुनो, अब झटपट ये सारे कपड़े समेट लो। चारों तरफ सब कुछ बिखरा पड़ा है, और तुम्हारी हालत यह है कि तुम अभी तक नहाए भी नहीं हो !'

दीपक का मन नाराज़ हो उठा। वह नाराज़ मन से काम करने लगा।

लल्लू रो रहा था। जमुना मुँह फुलाकर चावल बीन रही रही थी। दीपक का चेहरा तमतमाया हुआ था। रेवा बहन का सिर गरम हो उठा था।

घड़ी में सुबह के साढ़े दस बज चुके थे।

मणिलाल अभी तक लौटे नहीं थे। रेवा बहन अधीर बन कर बड़-बड़ा रही थी : 'कब साग आएगा, कब रवा आएगा। और कब सारी चीज़ें बनेंगी ? दो बजे तो हमको रुक्मिणी बहन के घर पहुँचना है ! इनकी आदत में तो कोई फरक पड़ता ही नहीं है ! कोई जान-पहचान के साथी कहीं मिल गए होंगे, और ये उन्हीं के साथ बैठ कर गप शप करने में लगे होंगे !'

इतने में जूतों की आवाज़ आई और मणिलाल ने हँसते-हँसाते पूछा : 'कहो, लल्लू, जमुना, जगदीश दीपक ! तुम सब तैयार हो रहे हो न ? बोलो, रसोई का काम कहाँ तक पहुँचा है ?'

रेवा बहन की भौंहें तन गईं। गुस्से-भरी आवाज़ में वे गरज उठीं : 'भला, ये सब तैयार कैसे हो पाते ? आपके ये जगदीश, लल्लू, जमुना और दीपक ! इनमें से किसी में कोई सलीका है ? कोई ढंग-धड़ा भी है ? और आप को तो और भी देर करके आना चाहिए था न ? भला, बिना रवे के मैं हलुआ कैसे बनाती ? क्या दिन में ग्यारह बजे साग-सब्ज़ी लाने का कोई समय होता है ?'

मणिलाल ने कहा : 'हम आज उस·······'

'अभी मुझको आपकी कोई भी बात सुनती नहीं है। आप पहले झटपट साग-सब्जी सँवार दीजिए कि मैं उसको चूल्हे पर चढा कर छौंक दूँ।'

मणिलाल धीर-गम्भीर बनकर साग-सब्ज़ी सँवारने लगे। तभी लल्लू ने आकर कहा : 'माँ, हम को डाँट-फटकार रही थी।' जमुना बोली : 'पिताजी ! माँ ने जगदीश की पट्टी फेंक कर फोड़ डाली।'

मणिलाल बोले। 'जो हुआ, सो हुआ आज तो हम में से किसी को न रोना है और न गुस्सा ही करना है। आज हमारे घर उत्सव होने वाला है न ! अब तुम सब सुनो, और मैं तुमको जो भी काम करने को कहूँ, तुम करने लगो।'

रेवा बहन गरज उठी : 'हाँ, अब सब बड़ी समझदारी की बातें कह रहे हैं। यहाँ अब तक जो हुआ, आज जो हुआ, कोई उसको देखने तो आता ! देखो, अब यह लल्लू शिकायत कर रहा है कि माँ ने यह किया और वह किया। और जमुना तो जमुना ही ठहरी। बदसूरत और बदतमीज़ !'

सुनकर बच्चे सब सहम उठे।

जब मणिलाल ने साग सँवार दिया, तो रेवा बहन ने धम-धम की आवाज के साथ बरतनों को उठा-पटक कर साग छौंक दिया।

रेवा बहन का सिर तपा हुआ था। उनका मिजाज बेक़ाबू था।

रेवा बहन ने कहा : 'कोई इधर रसोई-घर में आना मत। मैं अकेले ही सब-कुछ कर लूँगी। मुझ को यहां आपकी (मणिलाल की) भी जरूरत नहीं है।'

सब घर में चुपचाप बैठे रहे।

बारह के बाद एक बजे के आस पास भोजन तैयार हुआ। रेवा बहन ने सारी तैयारी करके सबको भोजन के लिए बुलाया।

लल्लू, जमुना, जगदीश, दीपक सब नीचा सिर किए भोजन करने आए। मणिलाल भी चुपचाप आकर बैठ गए। भला आज रेवा बहन किनके साथ बोलें और किन को बोलने के लिए कहें !

सब ने गुमसुम बनकर जैसे-तैसे भोजन कर लिया। किसी के मन में कोई खुशी नहीं थी। मणिलाल का मन तो जल-भुनकर खाक़ हो चुका था !

सब भोजन करके उठे। सब ने मीठा हलुआ खाया था, लेकिन कल रात की बातों में जो स्वाद रहा, वह आज के मीठे भोजन में गायब था। सब ने पान-बीड़े भी खाए, लेकिन कुछ गुस्से में और कुछ अनमने ढंग से।

मणिलाल ने सोचा कि अब वे बिगड़ी बाजी को कुछ सुधार लें, तो अच्छा हो। लेकिन रेवा बहन का सिर तो अभी तपा हुआ ही था। उन्होंने भी थोड़ा भोजन किया, पर उसमें उनकी कोई रुचि नहीं रही।

इस तरह सब का आधा दिन बिगड़ गया !

•

एक सच्ची घटना

आखिर यह दवा तो निर्दोष निकली, और इससे रम्भा को कोई नुक़सान नहीं हुआ, लेकिन अगर शीशी में ज़हर ही होता, और अनेक उपचारों के बाद भी रम्भा मौत के मुंह में चली गई होती, अथवा किसी भयंकर बीमारी के चंगुल में फँसी होती तो सोचिए कि क्या होता ?

क्या उस दिन की वह असावधानी एक अपराध न मानी जाती ? अजी, इसमें मानने या न मानने का सवाल ही कहाँ उठता है ? यह तो एक अपराध ही माना जाएगा। क्यों कि इसमें कितना बड़ा संकट समाया हुआ था, इसका अन्दाज़ तो हमारी आधे घण्टे की हमारी उस परेशानी से लगता ही है।

यह लज्जा-जनक और अपराध-पूर्ण घटना यों घटी थी :

रम्भा को बुख़ार आ रहा था। मलेरिया था। रम्भा की माँ पुष्पा बहन ने रमानाथ से कहा : 'रम्भा तो आज भी बेचैन ही है। क्या आप उसको कुनैन की एक ख़ुराक दे देंगे ?' पुष्पा बहन हाल ही आए मासिक पत्र को खोलकर उसके पन्ने पलटने में लगी थीं। रमानाथ को जल्दी थी। नौकरी पर जाने का उनका समय हो रहा था। कुनैन की शीशी को वे जहाँ-तहाँ खोजने लगे। वे इस कमरे में, उस कमरे में, सोने के कमरे में, वाचनालय वाले कमरे में, सब कहीं झटपट चक्कर लगा आए, पर शीशी उनको कहीं मिली नहीं। रमानाथ बोले : 'सुनो, शीशी कहाँ रखी है ? मुझको तो मिल नहीं रही।

रसोई घर में जाते-जाते पुष्पा बहन ने कहा : 'आप एक बार फिर देख लीजिए। मैं इस समय काम में हूँ।'

रमानाथ अधीर हो उठे थे। उतावली में उन्होंने दूसरी बार सब जगह चक्कर लगाया। एक शीशी मिली। ज़बरदस्ती रम्भा का मुँह खुलवाकर उसको दवा पिला दी।

रम्भा बोली : 'अरे, आज तो यह दवा ज़रा भी कड़वी नहीं लगी। आज न तो सुपारी खानी पड़ेगी, और न पानी पीना पड़ेगा।'

सुनकर रमानाथ चौंके। बोले : 'अरे, तुम यह क्या कह रही हो ? क्या मैंने तुमको कुनैन नहीं पिलाई ? तो मैंने तुमको क्या पिला दिया ?'

रमानाथ गहरे सोच में डूब गए, और घबरा उठे।

पुष्पा बहन बोली : 'तो अब आप इसको अस्पताल ले जाइए। ऐसी भी क्या उतावली थी कि जो भी शीशी हाथ में आई, वही उठा ली ?'

जवाब में रमानाथ को खीझने की फ़ुरसत नहीं थी। वे तो सीधे अस्पताल पहुँचे। इधर पुष्पा बहन उनकी उतावली को कोसने लगी। और यह सोचकर रोने लगी कि हे राम ! अब मेरी रम्भा का क्या होगा ?

'कहिए, रमानाथजी ! आज आप इस तरह हाँफते-दौड़ते क्यों चले आ रहे हैं ?'

'जी' ज़रा आप इस शीशी को देखिए। इसमें कौनसी दवा है ? गलती से दूसरी दवा के बदले यह दवा दे दी गई है।

डॉक्टर ने पूछा : 'किसने दी है ?'

रमानाथ बोले : 'जी मैंने अपने हाथों दी है।'

डॉक्टर ने कहा : 'अभी इसकी बात छोड़िए, पहले बीमार को यहाँ फ़ौरन ले आइए। दवा को देख कर क्या करना है ? बीमार की हालत देखनी होगी।'

रमानाथ उल्टे पैरों दौड़ पड़े। पानी बरस रहा था। फिर भी दौड़ते-दौड़ते घर पहुँचे, और बीमार को लेकर दौड़ने ही दौड़ने फिर डॉक्टर के पास आए। मन-ही-मन सोच रहे थे कि पता नहीं, क्या हुआ है, और क्या होने वाला है !

डॉक्टर ने रम्भा की जाँच शुरू की। आँखें देखीं, पेट देखा, हाथ देखे, नाखून देखे, सब कुछ देखा, तेजाब डालकर दवा की जाँच कर ली। रंग देखा। स्वाद देखा। सब कुछ देख लिया।

डॉक्टर बोले : 'ठीक पता नहीं चल रहा है कि यह दवा क्या है। लेकिन यह जहर तो लगती नहीं है। बीमार पर इसका कोई बुरा असर नहीं हुआ है।

रमानाथ की चिन्ता दूर हुई। उनके चेहरे पर थोड़ी चमक आ गई। डॉक्टर ने कहा : 'सुनिए, रमानाथ जी ! जो होना था ! सो तो हो गया। लेकिन आपके समान शिक्षित साथी को मैं उलाहना भी क्या दूँ ? क्या आप दवा की शीशी पर बीमार का नाम भी नहीं लिख सकते ? आप तो समझदार हैं। पढ़ते लिखते हैं। भाषण देते हैं, लेख लिखते हैं। क्या यह मामूली-सा काम आप नहीं कर सकते ? पुष्पा बहन भी पढ़ी-लिखी हैं। क्या वे भी इतना काम नहीं कर सकतीं ? ग़नीमत है कि कोई गड़बड़ नहीं हुई। किन्तु ऐसी स्थिति में तो मौत भी हो सकती है, और बालक भी हाथ से जा सकता है !'

रमानाथ लज्जित हो उठे। डॉक्टर ठीक ही कह रहे थे।

इतना ज्यादा काम था ही क्या ?

बुखार के कारण चन्दन बिछौने में पड़ी छटपटा रही थी। बुखार 105 डिग्री तक पहुँच चुका है, सुनकर चन्दन की माँ फिकर के मारे उठ खड़ी हुईं। चपरासी शंकरभाई बरफ लाने के लिए दौड़े-दौड़े बाजार गए। जीवन भाई बहुत पहले ही डॉक्टर को बुलाने जा चुके थे।

चन्दन का सिर दबाते-दबाते मैं मन-ही-मन गुनगुनाया : 'सारी कोशिशों के बाद भी चन्दन का बुखार तो जाता ही नहीं है। दो-चार दिन बीते न बीते कि फिर आ ही जाता है। दवा तो लम्बे समय से चल रही है, पर उससे कोई आराम नहीं हो रहा।

चन्दन बहुत घबरा रही थी। हाथ से अपना सिर पीट रही थी। सिर बहुत ज़ोरों से दुख रहा था। चन्दन की माँ ने कहा : 'क्या इस घर में कोई इसकी फिकर रखने वाला है ? इसको तो रोज़ दवाखाने ले जाना चाहिए। एक डाक्टर की दवा से आराम न हो, तो दूसरे डॉक्टर को दिखाना चाहिए। यहाँ काम न बने, तो कहीं दूसरी जगह ले जाना चाहिए। पर किसी को चन्दन की कोई चिन्ता तो है ही नहीं।

चन्दन के लिए मेरे मन में दुःख तो था ही। उसकी माँ के इन शब्दों ने उस दुःख को और बढ़ा दिया। चन्दन बीमार थी ही। माँ के इन शब्दों ने उसकी बीमारी और परेशानी को कुछ बढ़ा देने के अलावा और क्या किया होगा ?

बर्फ आ गई। मैंने उसे चन्दन के माथे पर रखा। चन्दन को कुछ आराम-सा लगने लगा। बुखार धीरे-धीरे कम हो रहा था।

इसी बीच डॉक्टर काका आ पहुँचे।

'क्या चन्दन को फिर बुखार आ गया ? इस समय कितना है।'

'आप इसका बुख़ार उतारते ही कहाँ हैं ? अभी तो साढ़े तीन है !'

चन्दन की माँ डॉक्टर पर सहसा बरस पड़ी। वे बोली : 'आपको चन्दन का इलाज करना ही कहाँ है ? आप तो दवा के नाम पर इसको पानी-भर पिलाते रहते हैं। आप इसको ऐसी कोई दवा क्यों नहीं देते कि इसे फिर बुखार कभी आए ही नहीं ?'

डॉक्टर के साथ हमारा पुराना सम्बन्ध था। डॉक्टर ख़ुद भी बहुत समझदार थे। सुनी-अनसुनी करके उन्होंने कहा : 'चन्दन के लिए आज जो दवा आई है, वह कहाँ है ? आज इसने दवा की कितनी खुराकें ली हैं ?'

मैं शीशी लाने के लिए उठा। लेकिन इसी बीच चन्दन की माँ ने कहा : इसने दवा पी ही कहाँ है ? यह तो लड़की ही ऐसी है कि दवा पीते समय बहुत नखरे करती है। दवा जितनी आई थी, उतनी ही मौजूद है। इसने तो दवा की एक भी बूंद पी नहीं है।

सचमुच चन्दन ने दवा पी ही नहीं थी।

डॉक्टर ने चिढ़कर कहा : 'भला, ऐसी हालत में इसका बुखार कैसे उतरता ? आज की दवा तो बुखार को रोकने की ही दवा थी, लेकिन चन्दन ने तो दवा पी ही नहीं ! इसको दवा तो पिलानी थी न ?'

चन्दन की माँ भड़क उठीं। बोली : 'इस घर में दवा पिलाने वाले हैं कौन ? भला, मै इस घर का काम-काज करूँ, रसोई बनाऊँ, छोटे बच्चों को नहलाऊँ-धुलाऊँ या इसको दवा पिलाऊँ ? मैं तो अब बहुत दिक़ आ गई हूँ। चन्दन ने तो अपना मुँह फेर लिया है। उनको दवा पीनी नहीं है, और बार-बार बीमार पड़ना है।'

डॉक्टर ने कहा : 'आइए, हम ज़रा बाहर बैठें। यहाँ चन्दन को तकलीफ होगी। मैं इसके लिए यह दवा लाया हूँ। दवा उसको पिला दीजिए। बुखार अभी उतर जाएगा।'

चन्दन की माँ अपना मुँह फुलाकर चन्दन के पास जा बैठी, और डॉक्टर के साथ मैं बाहर आया। डॉक्टर ने कहा : 'भले आदमी चन्दन की माँ तो जैसी है वैसी है, लेकिन आप ऐसे कैसे हैं कि दवा पिलाने में भी आलस्य करते हैं ? बच्चे अपनी राज़ी-खुशी से दवा पीते कब हैं ?'

अपना बचाव करने की कोशिश करते हुए मैंने कहा : 'लेकिन डॉक्टर साहब मैं तो अपने काम में लगा हुआ था।'

खीझ-भरी आवाज़ में डॉक्टर ने मित्रता-पूर्वक कहा : 'भैया, आप ऐसे कौन से काम में लगे हुए थे ? दिन में तीन बार ही दवा पिलानी थी। इसमें आपके कितने घण्टे खर्च होने वाले थे ? और आपका कितना काम पिछड़ने वाला था ? असल बात तो यह है कि दवा पिलाने में आपकी कोई रुचि थी ही नहीं। आपके मन में आलस्य भरा था। जिस पर आप यह कह रहे हैं कि डॉक्टर दवा नहीं दे रहे हैं। अच्छी दवा नहीं दे रहे हैं। इलाज के लिए कहीं और ले जाना चाहिए ! अपना दोष दूसरों पर मढ़ने की आपकी यह कैसी रीति-नीति है ? आप सब तो समझदार हैं, फिर भला, आपकी यह ऐसी कैसी कुटेव ?

सुनकर मैं तो सन्न ही रह गया ! कुछ कह ही नहीं पया। डॉक्टर मेरी शरमिन्दगी को पहचान गए। उन्होंने हमको कुछ सूचनाएँ दीं, और 'नमस्कार' कह कर वे अपने घर की तरफ चल दिए।

चन्दन का सिर दबाते-दबाते मैं मन-ही-मन सोचने लगा। मैं बार-बार अपने मन से पूछने लगा : 'आखिर मैं ऐसा किन कामों में लगा हुआ था। सुबह उठकर अखबार पढ़ा। क्या यह कोई बहुत बड़ा काम हुआ ? अखबार पढ़ने के बाद हजामत बनाई, और चाय पी। क्या यह कोई बहुत बड़ा काम कहा जाएगा ? चाय पीने के बाद डाक देखी। यह कौनसा बड़ा काम हुआ। डाक देखने के तुरन्त बाद कुछ मित्र मिलने आ गए। उनके साथ लम्बी गपशप चली। क्या यह कोई बड़ा काम माना जाएगा ? यह सब होते-हवाते सुबह के ग्यारह बज गए, और नौ बजे दी जाने वाली दवा की पहली खुराक नहीं दी जा सकी। क्या यह किसी बड़े काम के कारण हुआ ? ग्यारह बजे भोजन किया। भोजन के बाद थोड़ा समय आराम में बीता। साढ़े बारह बजे उठा

और किताब के कुछ पन्ने पढ़े। इसी बीच दूसरी खुराक का समय बीत गया। इस इतने-से काम के कारण दूसरी बार की दवा नहीं दी जा सकी। चन्दन तो आखिर बच्ची ही ठहरी। भला, कड़वी कुनैन पीना किसको अच्छा लगता है? वह खुद क्यों दवा को याद करती? उसकी माँ को तो मैं जानता ही हूँ, वे आज डॉक्टर को कैसी खरी-खोटी सुना रही थीं? तीसरी बार की दवा पिलाने का समय होने के पहले ही चन्दन को फिर बुखार आ गया, और सब दौड़-भाग में लग गए। डॉक्टर ने सच ही कहा था कि असल में अपराध तो मेरा ही है। बिना दवा दिए बीमारी को भगाने की बात करने का दोषी तो मैं ही हूँ। झूठ-मूठ के कामों में उलझ कर सब से पहले करने लायक काम को न करने का दोष तो मैंने ही किया है।

•

लेकिन वह मेरी सुनता ही कहाँ है?

एक बार माँ-बाप दोनों ने एक साथ अपने बच्चों के बारे में शिकायत पेश की : 'बच्चे हमारी सुनते ही नहीं हैं।'

माँ बोली : 'ये मेरी नहीं सुनते।'

बाप ने कहा : 'हाँ, ये मेरी भी नहीं सुनते। अब इनका क्या किया जाए?'

जवाब में मैंने दोनों से पूछा : 'आप दोनों से मेरा एक ही सवाल है। क्या आप दोनों आपस में एक-दूसरे की बात सुनते हैं?'

सवाल सुनकर माँ-बाप दोनों खिसिया गए।

माँ बोली : 'मैं तो इनकी बात सुनती हूँ, लेकिन ये मेरी बात कहाँ सुनते हैं?'

बाप ने कहा : 'मैं भी यही कहता हूँ, मैं तो इनकी बात सुनता हूँ, लेकिन ये मेरी बात कब सुनती हैं?'

मैंने तुरन्त ही कहा : 'आपके बच्चे आपकी बात नहीं सुनते, वे आपकी आज्ञा का पालन नहीं करते, इसकी जड़ में आप दोनों का यही व्यवहार है!'

बालक हमारी आज्ञा का पालन नहीं करते, इसके अलग-अलग कारण होते हैं। इन कारणों में एक कारण यह भी होता है कि बालक देखा करते हैं कि घर में माता-पिता एक-दूसरे की बात सुनते और मानते नहीं हैं। बालक नन्हे होते हैं। हम बड़े उनके लिए आदर्श का काम करते हैं। हम उनके लिए दर्पण बनते हैं। अगर वे हमारा अनुकरण करते हैं, तो इसमें दोष किनका है?

यदि स्त्री-पुरुष या पति-पत्नी हमेशा एक-दूसरे की न सुनें, न मानें, तो इस दुनिया का काम ही न चले। हम आपस में एक-दूसरे की बात मानते-सुनते हैं, इसी से तो यह दुनिया चलती रहती है। लेकिन यह भी सच है कि

अक्सर माँ-बाप एक-दूसरे से टकराते रहते हैं। उनकी यह टकराहट एक-दूसरे के अधिक निकट आने के लिए भी होती है, और एक-दूसरे का अधिक मजबूत सहारा पाने के लिए भी होती है। अक्सर एक-दूसरे के बारे में जानकारी की कमी या समझ का फेर भी आपस की टकराहट का निमित्त बन जाता है। वैसे, टकराहट स्वाभाविक है, लेकिन उससे बालकों को कोई नुकसान नहीं पहुँचना चाहिए।

बाल-शिक्षा का अथवा सत्य की उपासना का ऐसा कोई तत्त्व नहीं है कि माँ-बापों के सारे व्यवहारों की जानकारी बालकों को होनी ही चाहिए। कई बातें ऐसी होती हैं कि समय आने पर बालक उनको जान ही लेते हैं, माँ-बापों की आपस की टकराहट या कहा-सुनी उन तक ही रहनी चाहिए। उनकी ये बातें बालकों तक नहीं पहुँचनी चाहिए। कहने का मतलब यह है कि जल्दबाजी में अपने मतभेदों के कारण या दूसरे किसी भी कारण से माँ-बापों को अपने बालकों के देखते आपस में न तो लड़ना-झगड़ना चाहिए, और न एक-दूसरे का विरोध करना चाहिए। उनको एक-दूसरे का अपमान करके एक-दूसरे की आज्ञा का उल्लंघन भी नहीं करना चाहिए। क्योंकि माँ-बाप के मन में जागे झगड़ों के कारण तो आसमान में उठे बादलों की तरह कभी भी छँट जाते हैं, और अन्त में एक-दूसरे के बीच रहा निर्मल आकाश-सा प्रेम प्रकट होता है। किन्तु बालक तो अपने माता-पिता को उन बादलों की गड़गड़ाहट से और उसके कारण छाए अँधेरे से ही पहचानते हैं, और उसी हिसाब से वे उनको मापने-तौलते भी हैं। अक्सर इसके कारण हुई ग़लतफ़हमी की वजह से बालक अपने माँ-बाप के विरोधी बन जाते हैं, वे मन-ही-मन उनको धिक्कारने लगते हैं, और उनकी आज्ञा का अनादर भी करते हैं। माता-पिता अपने आपस के झगड़ों को अपने तक ही सीमित रखें, इसी में उनका और उनके बालकों का हित निहित है। यही उचित और आवश्यक भी है। इस तरह अपने बालकों को सँभालते-सँभालते एक स्थिति ऐसी भी आ सकती है कि जब वे अपने आपसी झगड़ों से सदा के लिए छुटकारा पा जाएँ। कहने का मतलब यह है कि बालकों के सामने तो माँ-बाप का अपना सच्चा प्रेमल स्वरूप ही आना चाहिए। उनका अपना जो शुद्ध, निर्मल आकाश है, वही प्रकट होना चाहिए—क्योंकि वही सत्य है, और वही शाश्वत भी है। बादल तो क्षणिक ही होते हैं। •

यह तो गँवार है, गँवार !

: १ :

'बेटे तुम खाना खाने के लिए उठोगे या नहीं ? यह खाना ठण्डा हुआ जा रहा है। मैं तुमको कब से पुकार रही हूँ। तुम उठते क्यों नहीं हो ?'

'अम्माजी ! बस, मैं उठ ही रहा हूँ। यह आखिरी गड्ढा और खोद लेता हूँ।'

'बेटे ! तुम्हारा गड्ढा जाए गड्ढे में ! मैं पूछती हूँ कि तुम अब खाने के लिए उठते हो या नहीं ? इस चौके में मैं कब तक बैठी रहूँ ?'

'अम्माजी ! बस, मुझको आया ही समझो। यह गड्ढा तो अब खुद ही चुका है।'

'बेटे ! तुम उठते हो या नहीं ? तुम न उठे, तो अपने इन रसोई वाले हाथों से ही मैं तुमको तड़ातड़ पीट डालूँगी। गँवार कहीं के ! पुकार-पुकार कर मेरी जीभ थक गई, पर एक तुम हो कि मेरी पुकार पर ध्यान देते ही नहीं हो !'

'अम्माजी ! बस, हाथ धोकर आ ही रहा हूँ।'

'हाय राम, अपने इस अभागे गँवार को मैं कैसे समझाऊँ ?'

❀ ❀ ❀

: २ :

'आज इस छगन को छड़ी से पीटिए।'

'आखिर बात क्या है ? सुनो छगन ! इधर आओ।'

'इसकी पिटाई तो होनी ही चाहिए। इसको दो छड़ी जोर से मारिए। बिना मार खाए यह मेरी सुनेगा ही नहीं।'

'लेकिन यह तो बताओ कि मामला क्या है?'

'यह बिलकुल गँवार बन गया है।'

'अच्छा, पहले मेरे लिए पानी लाओ। मुझको प्यास लगी है। अपनी यह पगड़ी तो मुझे उतारने दो!'

'नहीं, पगड़ी बाद में उतारिए। पहले इस छगन की मरम्मत कीजिए। देखते नहीं हैं, कैसा गाय की तरह ग़रीब और भीगी बिल्ली की तरह सहम कर खड़ा है!'

'छगन! कहो, तुमने क्या कर डाला?'

'पिताजी! मैंने तो कुछ भी नहीं किया। अपने संग्रह की कौड़ियाँ गाड़ने के लिए मैं उधर आँगन में एक गड्ढा खोद रहा था। तभी अम्माजी ने कहा: 'झट आ जाओ, और खाना खा लो। खाना ठण्डा हो रहा है।' मैं बोला: 'बस यह गड्ढा खोदकर आ ही रहा हूँ। इस पर अम्माजी गुस्सा हो उठीं!'

'तुमको ज़रा रुक जाना था। आखिर देर कितनी होती?'

'भला, मैं रसोई घर में कब तक बैठी रहती? आप इस गरमी में चूल्हे के पास बैठकर देखेंगे, तो आपको मेरी तकलीफ का पता चल सकेगा!'

'कुछ देर के लिए खाना ढँक कर रख देना था। यह अपने आप खा लेता।'

'पर खाना बिलकुल ठण्डा जो हो जाता!'

छगन ने कहा: 'लेकिन मुझको गरम खाना पसन्द ही कहाँ है?'

'आप सुन रहे हैं न? यह कैसी मुँहजोरी कर रहा है? अब तो आप इसको चार छड़ी तड़ातड़ जमा ही दीजिए।'

: ३ :

माँ ने अपने बेटे की हाज़िरी में उसकी शिकायत न की होती, तो काम चल सकता था। अपने खिलाफ शिकायत और उलाहने सुनकर कौन बालक है,

जिसका दिल दुखता न हो? कार्यालय से थक कर आए अपने बेटे के बाप से कुछ देर बाद शिकायत की होती, तो क्या वह बेहतर न होता? जिसको हमने गँवार मान लिया है, क्या हमारा वह बेटा छड़ी की मार खा लेनेभर से चतुर बन जाएगा? मां अपने बेटे के लिए खाना ढँक कर रसोईघर से बाहर आ जाती, तो क्या उससे उसका काम न बनता? बाद में बेटे को अपने पास बैठाकर माँ उसको प्यार के साथ समझा सकती थीं कि 'बेटे! अपना खाना तो सुबह-शाम समय पर ही निपट जाना चाहिए। कोई पहले खाए और कोई बाद में खाए या देर में आकर खाए, तो सारा दिन खाने की व्यवस्था में ही बीत जाता है, और दूसरे कामों के लिए समय ही नहीं बचता।

अंग्रेज़ी में एक कहावत है कि 'औंस-भर समझाइश सेर-भर मार के बराबर होती है।'

•

मैं इसका क्या उपाय करूँ ?

सुमति बहन ने लक्ष्मी बहन से कहा : 'बहन ! मैं इसका क्या उपाय करूँ ? यह जब भी पाटा बिछाती है, जोर से पटक कर ही बिछाती है। दस में से नौ बार तो बिना चूके ऐसा ही करती है। मैं तो अपनी इस सविता के कारण बहुत ही परेशान रहती हूँ।'

लक्ष्मी बहन ने पूछा : 'सुमति बहन ! क्या आपने कभी अपनी सविता को समझाकर कहा है कि वह बिना आवाज़ किए पाटा बिछाया करे ?'

सुमति बहन बोली। 'बहन, एक बार नहीं कह चुकी हूँ। जब-जब भी पटे की आवाज़ आई है, तब-तब मैंने इसको टोका है।'

'लेकिन बहन ! जब एकाध बार यह पाटा धीमे से बिछाती है, तो क्या उस समय आपने सविता को कभी यह कहा है कि बेटी, आज तो तुमने पाटा बिना आवाज़ किए ही बिछाया !'

'नहीं बहन ! ऐसी बात तो कभी कही नहीं। कहने की ज़रूरत भी क्या है ? कभी भूले-चूके पाटा धीरे से बिछा भी दिया, तो कौन बड़ी बात हो गई ?'

'सुनो बहन ! यही तुम से भूल हो रही है। अकेली तुम ही भूल नहीं कर रही हो, बल्कि हम सब भी ऐसी भूलें करते ही रहते हैं। जब बालकों से कोई गलती हो जाती है, तो हम बार-बार उनका ध्यान उसकी तरफ इस तरह खींचते रहते हैं कि वे मानने लगते हैं कि गलतियां तो उनसे होती ही रहेंगी, और कोई सही-सच्चा काम उनके किए हो ही नहीं पाएगा। जब बालक की मानसिक स्थिति ऐसी बन जाती है, तो वह ज्यादा से ज्यादा गलतियाँ करता रहता है, और ज्यादा उलाहने भी सुना करता है। सच तो यह है कि जिस तरह बालक ग़लतियाँ करते हैं, उसी तरह कई बार वे ग़लती नहीं भी करते हैं। अक्सर वे कई अच्छे काम भी करते रहते हैं, पर उनके ऐसे अच्छे कामों का कोई हिसाब हम रखते नहीं, और न उन कामों की तरफ कोई ध्यान ही देते हैं। उनको उनके दोष दिखाते रहने को तो हम बराबर तैयार रहते हैं, पर उनके गुण देखकर हम खुश नहीं होते, और उन गुणों की ओर उनका ध्यान खींचकर हम उनको गुणों के प्रेमी भी नहीं बनाते। यह तो सच है न कि सविता दस बार में से एक बार पाटा अच्छी तरह बिछाती है ? जब वह ऐसा करती है, तभी तुम उससे कहा करो, 'बेटी, सविता ! आज तो तुमने पाटा बहुत ही अच्छी तरह बिछाया है। अच्छा हो कि तुम रोज़ इसी तरह पाटा बिछाया करो।' सचमुच तुम्हारे मुँह से ऐसी बात सुनकर सविता खुश होगी, और उसका ध्यान अपने इस गुण की तरफ जाएगा। वह अपने इस गुण को बढ़ाते रहने का प्रयत्न करती रहेगी। परिणाम यह होगा कि रुचि और अनगढ़ता का स्थान सुरुचि और सुघड़ता ले लेगी। बालकों की अपनी जो अच्छाइयाँ हैं, यदि हम उनकी कद्र और तारीफ करते रहेंगे, तो उनकी अच्छाइयाँ बराबर बढ़ती रहेंगी। इसके विपरीत यदि हम उनकी कमजोरियों पर ही जोर देते रहेंगे, उन कमजोरियों के लिए उनको उलाहने भी दिया करेंगे, और उनकी इन कमज़ोरियों को दूर करने की सीधी कोशिश करेंगे, तो उनमें ये कमजोरियाँ मजबूत होती चलेंगी, समझिए कि जड़ जमाकर बैठ जाएँगी।'

सुमति बहन बोली : 'लक्ष्मी बहन ! आपकी ये सब बातें बराबर मेरे गले उतर रही हैं। अब मैं ऐसा ही करके देखूंगी। देखना होगा कि परिणाम क्या निकलता है !'

•

अभी मटका फोड़ देगा !

हमारे घर के सामने एक खवास का घर था। माँ-बेटा दोनों एक साथ रहते थे। माँ ग़ुस्सेबाज़ भी, और बेटा शराबी था। बेटा रात शराब पीकर आता। उसको देखकर माँ का गुस्सा बढ़ जाता। बेटा पानी पीने के लिए मटके के पास पहुँचता। माँ सोचती कि शराब के नशे में बेटा मटका फोड़ देगा। माँ ख़ुद उसको न तो पानी देती, और न धीमे से समझा कर कहती कि 'भैया, पानी सँभालकर पीना।' उल्टे, वह तो कहती : 'लो, यह अभागा अब आ गया है ! यह अभी मटका फोड़ डालेगा गाली सुनकर लड़का तुरन्त ताव में आ जाता है, और एक धमाके के साथ मटका फोड़ डालता है। मटका फोड़ देने के बाद माँ यह नहीं कहती कि 'खैर, जो हुआ सो हुआ। अब तुम सो जाओ। माँ तो अधिक ग़ुस्से में आकर कहती है, 'लो, अब तो यह मुआ काँच के बरतन भी फोड़ेगा। तुरन्त ही टाँड पर रखे काँच के सब बरतन नीचे आ गिरे और चूर-चूर हो गए ! इस पर माँ बोली, 'कहीं यह मुआ लकड़ी लेकर मुझको ही न मारने लगे ! 'और बुढ़िया पर तड़ातड़ लकड़ी बरसने लगी !

बालक शराबी नहीं होते हैं, लेकिन अक्सर माताओं की बोली, जिस माता की बात ऊपर कही गई है, उसके समान होती है। माँ के बोल ही बालक को ग़लत काम का रास्ता दिखाते हैं। जब बालक से एक ग़लती होती है, तो हम ही अपने दूसरे बोल से बालक को दूसरी ग़लती की दिशा में धकेल देते हैं। इस प्रकार हमारे ही कारण बालक ग़लती पर ग़लती करने की आदत वाला बनता जाता है।

हाथ में लकड़ी लेकर घूमते हुए बालक को देखकर माँ सहसा कहने लगती है : 'अरे यह अभी मटका या प्याला फोड़ डालेगा।' फिर कहती है : 'यह अभी अपने भाई को मारेगा।' माँ की बात सुनकर बालक मटका फोड़ने या भाई को मारने के लिए तैयार हो जाता है। पहले माँ ख़ुद ताव में आती है, और फिर माँ की बात सुनकर बालक भी ताव में आ जाता है।

'यह अभी रोएगा', 'यह अभी मचलेगा,' 'यह अभी ज़िद करेगा,' 'उठा लेने को कहेगा,' 'खाने की चीज़ माँगेगा,' ऐसे वाक्य बोल-बोलकर हम ही बालक को पहले से सुझा देते हैं कि उसको क्या करना है। हमारी बातें सुन-सुनकर बालक ताव में आ जाता है, और वैसे ही काम करते रहने की लत वाला बन जाता है। एक ग़लत काम के बाद दूसरा ग़लत काम न करने का रास्ता दिखाने के बदले हम उससे ऐसी बात कहते हैं कि जिसके कारण वह दूसरा ग़लत काम करने की ओर मुड़ता है। इसका परिणाम यह होता है कि बालक ग़लत रास्ते चल पड़ता है, और बुढ़िया के बेटे की तरह नुक़सान करने का या झगड़ा मचाने का रास्ता अपना लेता है।

माता-पिता को इस विषय में ज़रूर सोचना चाहिए। जो बात हम ख़ुद बोलते हैं, थोड़ी सावधानी के साथ हम उसको ख़ुद ही सुनेंगे, तो हमको बुढ़िया की और उसके बेटे की बात ज़रूर ही याद आएगी।

•

सुनते नहीं हो, तो क्या मरना चाहते हो ?

माँ रोज़ कहा करतीं : 'बेटे ! तुम मेरी सुनते नहीं हो, तो तुम किसी दिन मर जाओगे।'

लेकिन लड़का तो उल्टी खोपड़ी का था। वह रोज़ नई-नई तरक़ीबें निकालता। नए सवाल खड़े करता। किसी से डरना तो वह जानता ही नहीं था। वह समूचे गांव को हैरान और परेशान करता रहता था।

गांव से कुछ दूर एक तालाब था। माँ रोज़ कहतीं : 'बेटे ! तालाब पर मत जाना। अगर तुमने मेरी बात न सुनी, तो तालाब में रहने वाला मगर तुमको खा जाएगा। वहाँ एक बहुत बड़ा मगर रहता है।'

लेकिन लड़का ऐसी बातों से डरने वाला था नहीं। जवाब में वह कहता : 'माँ ! चलो, तुम मुझ को दिखलाओ कि मगर कैसा है !'

लड़का सहसा बोला : 'माँ ! मुझको थोड़ा पानी पिला दो न !'

माँ ने कहा : 'ज़रा ठहरो। ऐसी कौन मुसीबत आ पड़ी है ?'

लड़का फिर बोला : 'माँ मुझको पानी पिला दो न !'

माँ ने कहा : 'पानी तुम अपने हाथों पी लो। क्या तुम्हारे हाथ-पैर टूट गए हैं ?'

इस पर लड़का बोला : 'तो माँ, सुनो ! मैं यह चला। तालाब पर जाकर वहीं पानी पी लूंगा।'

लड़का चल दिया।

माँ ने कहा : 'बेटे, ओ बेटे ! मेरी सुनो। लौट पड़ो। लौटो, लौटो ! तुम मेरी बात सुनते नहीं हो। तुम बेमौत मर जाओगे।'

लड़का तो मगर को देखना चाहता था। तालाब के किनारे पहुँच कर जैसे ही उसने पानी पीना शुरू किया, मगर ने अपना मुंह बाहर निकाला, और लड़के की टाँग पकड़ ली। लड़के की क्या ताक़त थी कि वह अपनी टाँग छुड़ा लेता ? मगर ने लड़के को निगल लिया। माँ दूर खड़ी-खड़ी देखती रही। भला, वह मगर के पास कैसे जाती ?

माँ तो रोने और बिलखने लगी। अड़ोस-पड़ोस के लोग इकट्ठा हो गए। सब कहने लगे : 'तुमने अपने लड़के को रोका क्यों नहीं ? वहाँ उसकी ऐसी क्या चीज़ गड़ी थी कि तुमने उसको वहां जाने दिया ?'

माँ बोली : 'अरे भैया ! अपनी तरफ से तो मैंने उसको बहुत मना किया। कहते-कहते मेरी तो जीभ सूखने लगी। लेकिन उसने मेरी एक न सुनी। जो अपने माँ-बाप की बात नहीं मानते, उनके ऐसे ही हाल होते हैं।'

पड़ोसी कहने लगे : 'हाँ बहन ! आजकल के ये लड़के कुछ ऐसे ही हो गए हैं। ये अपने माँ-बाप की बात तो सुनते ही नहीं हैं। फिर इनकी ऐसी हालत न हो, तो और क्या हो ?'

लड़का मगर के पेट में पहुँचा। लेकिन वह कच्चा-पोचा तो था नहीं। वह तो अपनी कमर में छुरी रखकर गया था। छुरी से मगर का पेट चीर कर वह बाहर निकल आया, और दौड़ता-दौड़ता घर पहुँच कर माँ से कहने लगा : 'माँ ! तुम तो कहती थीं कि मैं तुम्हारी बात नहीं मानूंगा, तो मैं मर जाऊँगा !'

: २ :

अफ्रीका में प्रचलित एक कहानी है। कहानी बिलकुल झूठी है। लेकिन उसमें एक रहस्य है। हम अपने परिवारों के कुछ उदाहरण लें। लड़का कहता है : 'माँ ! मुझको इस निसैनी पर चढ़ना है।' माँ कहती है : 'नहीं, मत चढ़ो।' लड़का माँ की बात नहीं मानता, और निसैनी पर चढ़ने लगता है। माँ कहती : 'बेटे ! सुनो, तुम गिर पड़ोगे।' लड़का निसैनी पर चढ़कर फिर नीचे उतर आता है, और अपनी माँ से कहता है : 'माँ ! तुम तो कहती थी, कि मैं गिर पड़ूंगा। लेकिन मैं गिरा तो नहीं !।

नन्हा-सा बालक पूछता है : 'मां ! मैं पटिया ले आऊँ ! दूध की बोतल ले आऊँ ! अमुक चीज ले आऊँ ? तमुक चीज ले आऊँ ?' मां कहती है : 'नहीं, मत लाओ । तुम्हारे हाथ से गिर पड़ेगी ।' बालक कहता : 'नहीं, मैं तो लाऊंगा ।' मां कहती है : 'बेटे ! तुम रहने दो । चीज तुम्हारे हाथ से गिर पड़ेगी, और तुम्हारे पैर में चोट लग जाएगी ।'

'हां, और 'ना' का यह सिलसिला चलता रहता है, इसी बीच बालक अपनी सोची हुई चीज उठा कर ले आता है, और मां से कहता है । 'मां ! तुम तो कहती थीं कि मेरे पैर में चोट लग जाएगी । लेकिन देखो, मुझ को तो कोई चोट लगी नहीं !'

हमारे घरों में ऐसी घटनाएँ घटती ही रहती हैं । इधर मां मना करती है । उधर बच्चा अपनी पसन्द का काम करना चाहता है । मां अपनी मनाही का कारण बताती है । उधर बच्चा मां की बात को ग़लत साबित कर देता है । मां को लगता है कि बच्चा उसकी बात सुन नहीं रहा है । वह सिर-फिरा बन गया है । बच्चा सोचता है कि मां नाहक़ मना करती रहती हैं, और उसको ग़लत-सलत समझाती रहती हैं । मां कहती हैं : 'यह हो जाएगा, वह हो जाएगा ।' बच्चा साबित कर देता है कि वैसा कुछ होता नहीं है । इधर मां बच्चे को काम करने से रोकना चाहती हैं । उधर बच्चा काम करके दिखा देता है, और मां की बात को उलट देता है । इस तरह मां को मना रहते करने की, और बच्चे को मां की बात न मानने की आदत पड़ जाती है ।

अपनी बात मनवाने का एक अजीब-सा शौक़ हमको होता है । इसके लिए हम बालक को डांटते-डपटते रहते हैं, और उसको मारते-पीटते भी हैं । बीच-बीच में हम उसको लालच भी दिखाते रहते हैं । मां-बाप की बात न सुनने वाले बालक के ऐसे हालत होते हैं, और वैसे हालत होते हैं, इस बात को उसके गले उतारने के लिए बालक को मक्खी की और उसके बच्चे की कहानी सुनाई जाती है, और उस पर यह असर डाला जाता है कि उसको अपने बड़ों और बूढ़ों की बात माननी ही चाहिए । न मानने से उसको पाप लगता है । नदी उसको बहाकर ले जाती है, या वह खौलते हुए पानी के कड़ाह में गिर

कर मर जाता है, अथवा मगर उसको निगल जाता है लेकिन मां-बाप की ऐसी मनाहियों की परवाह न करके अपनी मरजी का काम करने वाला बालक तुरन्त ही समझ जाता है कि मां-बाप की मनाही बिलकुल बनावटी है । कभी मां-बाप की कही बात सच भी निकलती है, तो ऐसे मामलों में बालक अपने अनुभव से यह समझ लेता है कि वह ठीक-से चल नहीं पाया, इसलिए गिर पड़ा । मां-बाप के मना करने पर भी वह खेलने चला गया था, इसलिए उसको चोट लगी, ऐसी कोई बात असल में होती नहीं है । ऐसी स्थिति में कुछ बालक यह भी मानते हैं कि अपनी मां की बात न मानने से वह गिरा, या उसको चोट लगी । लेकिन बच्चों का यह विचार लम्बे समय तक टिक नहीं पाता । अगर टिकता है, तो बालक में कार्य-कारण को ग़लत रीति से जोड़ने की वृत्ति उत्पन्न हो जाती है । उसके मन में यह शक भर जाता है कि मां-बाप की बात न मानने से उसका कुछ-न-कुछ नुक़सान होता ही है । जहां मन में ऐसा शक या वहम पैदा हो जाता है, वहां बुद्धि का अंधेरा छा जाता है ।

हमें अपने बालकों को ग़लत ढंग से समझाना नहीं चाहिए । ऐसा करके हम ख़ुद ही उनके जीवन में अश्रद्धा और आज्ञापालकता का अभाव उत्पन्न कर देते हैं । जहां बालक की वास्तविक सुरक्षा के लिए उचित रोक लगाना बहुत ज़रूरी हो जाए, वहीं हम उसको रोकें, और रोकने के बाद जब तक बालक रोक के कारण को ठीक से समझ न ले, तब तक हम उसको सच्चे कारणों की जानकारी देते रहें, बिलकुल नन्हें बालकों को भी धीमे से समझाते हुए यदि हम उनको सही जानकारी देते हैं, तो वे उसको समझ लेते हैं ।

लोक-शिक्षा का काम करने वाले हमारे कुल लोग बालकों को ऐसी कहानियां सुनाते हैं, जिनमें यह बताया जाता है कि बालक ने अपनी मां की बात नहीं मानी, इसलिए वह मर गया ! अफ्रीका में लोक-शिक्षा का काम करने वाले अपनी ऐसी कहानियों के द्वारा मां को यह सिखावन देने-से लगते हैं कि इस तरह मनाही करके वह बालक को जहां-तहां जाने से रोके नहीं ।

•

नहाने की मनाही

कुछ समय पहले अपने छोटे बालकों को लेकर हम एक नदी पर नहाने गए थे। हमारे बाल-मन्दिर के कई बालक आए थे।

नदी का पानी अपनी कल-कल, छल-छल आवाज़ के साथ बह रहा था। छोटे बालक अपने घुटनों तक पहुँचने वाले पानी में नहा रहे थे। वे एक-दूसरे पर पानी फेंक कर हँस रहे थे। पीठ के बल पानी में बैठकर वे आसमान के सामने देख रहे थे। कोई-कोई मछली की तरह पानी में बह रहे थे। बालकों की अपनी बढ़िया जल-क्रीड़ा चल रही थी।

मैं उधर से निकला। एक भाई किनारे खड़े-खड़े यह सब देख रहे थे। मैंने उनसे पूछा : 'क्यों भैया ! आप नहा लिए ?'

वे बोले : 'नहीं।'

मैंने कहा : 'आइए, हम नहा लें।'

वे रोने लगे और बोले : 'मेरी माँ ने नहाने की मनाही की है।'

मैंने पूछा : 'भला क्यों ?'

मैंने बहुत आग्रह किया, पर वे नहाने को तैयार नहीं हुए।

मैं विचार करने लगा : 'आखिर माँ ने मनाही क्यों की होगी ?'

मुझको लगा कि बालक अपनी माँ का बहुत ही लाडला होगा, शायद इकलौता भी हो, इसलिए माँ ने सोचा होगा कि कहीं उसका बालक पानी में डूब न जाए। नदी की तेज धारा में बह न जाए।

इसमें सन्देह नहीं कि इस मामले में माँ का अपना पुत्र-प्रेम ही काम कर रहा होगा। अपने बालक की सुरक्षा के विचार से ही माँ ने उसको नदी में नहाने से रोका होगा। और जब नदी में नहाए बिना ही बालक कुशल-पूर्वक घर पहुँचेगा, तो सचमुच माँ का यह विश्वास दृढ़ होगा कि इस तरह बालक को लिखा-पढ़ाकर और नदी में न नहाने का हुक्म देकर उसने अपनी दृष्टि से तो ठीक ही किया है।

बालक की दृष्टि से देखें, तो बालक के लिए माँ का यह जो प्रेम है, और इस प्रेम के मूल में माँ के हृदय की जो भावना है, उसको हम अस्वीकार नहीं कर सकते। फिर भी कहना होगा कि इसमें अज्ञान है, अथवा प्रेम की विकृत भावना है। माँ के मन में सहज ही यह भावना बनी रहती है कि उसका बालक सदा सुरक्षित रहे। किन्तु इसी के साथ माँ का मन यह भी चाहता है, उसको चाहना चाहिए, कि उसके बालक के शरीर और मन की सब शक्तियों का अच्छा विकास हो। बालक के प्रति माँ की अति ममता बालक के अपने विकास में ही बाधक बने, तो वह उसका मातृ-प्रेम नहीं, बल्कि मातृ-स्वार्थ ही माना जाएगा। माँ कभी यह न चाहेगी कि उसके बालक को कहीं कोई चोट पहुँचे। किन्तु इसी के साथ यदि माँ इस बात की चिन्ता न रखे कि उसका बालक निष्क्रिय और अशक्त न रहे, तो मानना होगा कि माँ की बुद्धि और भावना अविकसित और अन्धी रह गई है।

मान लीजिए कि बीस साल की अपनी उमर में यह बालक तैरना न जानने के कारण ही किसी बाढ़ में बह जाता है, जब कि इसके वे साथी जो नदी में नहाते-नहाते धीरे-धीरे तैरना सीखकर निर्भय बने हैं, बच जाते हैं, तो ऐसी स्थिति में इस बालक की माँ क्या सोचेगी ? वह तो अपना सिर पीटकर कहेगी कि हाय, हाय, मैं कैसी कम अक़ल रही कि मैंने खुद ही अपने बालक को शक्ति-सम्पन्न होने से रोका ? खुद मैंने ही उसके हाथ-पाँव काट डाले, अथवा उनको बाँधकर रखा !

बहुत ज्यादा फिकर रखने वाली माताओं के बालकों की यही हालत होती है। यही सहज भी है। बालक का मूल स्वभाव अपनी हलचलों से शक्ति प्राप्त करने का है। किन्तु जब कोई शुभ चिन्तक माता बालक को सब तरह के काम करने से रोकती है, और बालक की सुरक्षा के विचार से उसके सारे काम खुद कर देती है, या करवा देती है, तब बालक निकम्मा बनकर अन्दर-ही-अन्दर सड़ने लगता है। उसकी शक्ति का प्रवाह थोड़े समय के लिए ज़ोर

पकड़ने के बाद फिर क्षीण होने लगता है । बार-बार रोने और हाथ पांव पछाड़ने के बाद उसका अपना व्यक्तित्व कुण्ठित होने लगता है और अन्त में बालक हताश बनकर अशक्त होते रहने की दिशा पकड़ लेता है । इस तरह धीरे-धीरे वह अपना आत्मविश्वास खो बैठता है । वह अपनी माँ को ही सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान मानने लगता है । माँ की हर बात उसके लिए शास्त्र-वचन बन जाती है । वह खुद सोचने और काम करने की अपनी शक्ति खो देता है । वह बार-बार अपनी माँ से पूछता रहता है : 'माँ ! मैं यह करूँ ? माँ ! मैं वह करूँ ?' वह अपनी माँ की 'हाँ' और 'ना' का पाबन्द बन जाता है । उसमें उसका अपना कोई अपनापन रहता ही नहीं । लोग उसको अपनी माँ का पिट्ठू और माँ का फरमाबरदार कहने लगते हैं । बाद में अपने इसी फरमाबरदार बेटे से माँ कहती है : 'अभागे ! तू ऐसा नामरद कैसे बन गया ? कम्बख्त ! तुझको इतना संभाला और सहेजा, क्या इसी कारण तू इतना निकम्मा बन गया है ?' आदि-आदि । लेकिन यह सब तो 'का वर्षा, जब कृषि सुखाने' जैसी बात हो जाता है !

माँ को बालक की चिन्ता तो रहनी ही चाहिए । लेकिन यह चिन्ता बालक के लिए हमेशा हितकारी होनी चाहिए । यह चिन्ता न तो कल्पित होनी चाहिए, और न अकारण ही होनी चाहिए । असल में, माँ को अपने बालक से कहना यह चाहिए था कि : 'बेटा ! तुम्हारे शिक्षक जहाँ कहें, वहाँ तुम नहाना । जहाँ सब नहाते हों, वहीं तुम भी नहा लेना बिना अनुमति के घुटने-घुटने पानी से आगे मत बढ़ना ।'

माँ को अपने बालक के बारे में शिक्षक से भी बात कर लेनी थी । शिक्षक को सब-कुछ समझा देना था । भले ही बालक को अपने साथ ले जाने वाले पर हमारा पूरा भरोसा हो, फिर भी माँ का मन अपनी ओर से दो बात कहे बिना रहता ही नहीं । माँ अपनी बात जरूर कहे । किन्तु इसके बाद,जिस शिक्षक को बालक सौंपा है, उस पर, और सबसे बड़े गुरु भगवान पर, भरोसा करने की बात माँ को सीख लेनी चाहिए ।

सब माताएँ हमेशा यह नहीं सोचतीं कि कभी, किसी पर कोई भरोसा किया ही न जाए । किसी का मातृ-प्रेम भरोसे पर निर्भर करता है, किन्तु वह बालक के बारे में पूरी तरह निश्चिन्त नहीं रह सकता । माता को चाहिए कि वह अपनी इस कोमल भावना को बालक के ही हित में कुछ कठोर बना ले । इस तरह कठोर बनी हुई कोमलता को ही सच्ची और संतुलित भावना मानना चाहिए । कई माताएँ अपनी दुर्बल भावना के कारण अपने बालकों को निर्बल बनाए रखती हैं, और आखिर वे उनको खो बैठती हैं ।

जिस समय इस बालक के संगी-साथी नदी में नहाकर नहाने का आनन्द ले रहे थे, पानी के साथ अपनी पहली पहचान का मजा ले रहे थे, तैरने की कला सीखने की कोशिश में लगे थे, आत्मविश्वास का और स्वतंत्रता का अनुभव कर रहे थे, उस समय यह बालक नदी-किनारे खड़ा-खड़ा रो रहा था ! यह खुद तो नहाना चाहता था, पर इसकी माँ की मनाही इसको रोके हुए थी । खुद अपना विकास करने के बदले यह अपनी कुण्ठा बढ़ा रहा था । अपनी माँ की आज्ञा के कारण खुद जीते-जी एक पत्थर बनकर रह गया था । काश ! इसकी माँ ने ऐसी मनाही न की होती !

हमारी टोली के दूसरे सब बालक तो अपने-अपने घर जाकर अपनी माँ से और अपने पिता से कहेंगे : 'हम नदी में यों नहाए और त्यों नहाए । हम तैरना सीख गए । हमने पानी में ढेर सारी डुबकियाँ लगाईं । हमने पानी उछालने के खेल खेले' और, अपने बालकों की ये बातें सुनकर माँ-बाप दोनों को खुशी हुई होगी ।

अब सोचिए कि यह बालक अपने घर जाकर अपनी माँ से क्या कहेगा ? माँ पूछेंगी : 'तुम नदी में नहाए तो नहीं न ?' बालक कहेगा : 'मैं नहीं नहाया ।' और जब उसको नदी की और उसमें नहाने वाले अपने साथियों की याद आएगी, तो वह रो पड़ेगा और कहेगा : तुम्हीं ने मुझको कहा था कि मैं नदी में न नहाऊँ ।'

बालक की बात सुनकर माँ उस पर नाराज होगी और उससे कहेगी : बेटे ! 'तुम रोते क्यों हो ? न नहाकर तो तुमने अच्छा ही किया है । तुम

कितने समझदार हो कि तुमने मेरी बात मानी। ठीक है कि नदी में नहाते समय कोई बालक बहा नहीं। लेकिन अगर कोई बह जाता तो सोचो कि कितना अनर्थ हो जाता ?' बालक फिर अपनी माँ की विषैली दलील के चक्कर में फँस जाएगा वह रोना भूल जाएगा, और सोचेगा : 'अच्छा ही हुआ कि मैं डूब नहीं गया !'

यह बालक जब बड़ा होगा, और कभी डूबेगा ही नहीं, तो अपने बालकों को भी यह पानी में उतरने नहीं देगा, क्योंकि कहीं ऐसा न हो कि वे पानी में डूब जाएँ !

•

वह चोट खा जाती !

मैं अपने एक मित्र के घर बैठा था। इतने में एक छोटे बालक की शिकायत लेकर मित्र की माताजी हमारे पास आईं और बोलीं : 'ज़रा इस लल्लू को धमकाओ। अपनी मुन्नी को यह इस तरह दौड़ा रहा था कि अगर वह गिर पड़ती, तो चोट खा जाती।'

मित्र समझदार थे। उन्होंने माता जी का गुस्सा देख लिया। मुन्नी की आंखों में शिकायत का जो जोश उतर आया था, उसको भी देख लिया। फिर धीरे-से हँसते हुए कहा : 'लेकिन चोट लगी तो नहीं न ! तो बस, मामला खतम !' सुनकर माताजी झल्ला उठीं। बोलीं : 'लेकिन अगर मुन्नी चोट खा जाती तो उसके हाथ-पैर न टूट जाते ? हमारे घर यह सब नहीं चलेगा। लल्लू लाडला है तो भले ही अपने घर में वह लाड़ला बना रहे !'

मित्र ने फिर हंस कर कहा : 'लेकिन माताजी ! मुन्नी को चोट लगी तो नहीं है न ?'

माताजी और अधिक झल्लाईं और बड़बड़ाती हुई बोलीं : 'लेकिन अगर मुन्नी चोट खा जाती, तो क्या होता ?' वे जाते-जाते बोलीं : 'कल लल्लू को यहाँ आने दो। मैं ही उसको धमकाऊँगी।'

मेरे मित्र का व्यवहार उचित ही था। वैसा ही होना चाहिए था। हम इतनी बात भी साफ़-साफ़ नहीं समझते कि 'अमुक काम ऐसा हो जाता', इसी को एक आधार बनाकर लड़ना-झगड़ना, और डाँटना-डपटना कितना मूर्खतापूर्ण है ? दो बालकों के बीच ऐसी कोई घटना घट जाती है, तो हम तुरन्त ही 'ऐसा होता, ऐसा होता, ऐसा होता' कह कहकर चीखने-चिल्लाने लगते हैं, कलपने-जलपने लगते हैं, और इस तरह आपस ही आपस में झगड़ों

के बीज बो देते हैं। और, सच तो यह है कि ऐसी ही कई नाकुछ-सी बातों को लेकर बहुतेरे पड़ोसी आपस में लड़ते-झगड़ते देखे जाते हैं।

किसी बात को देखने-समझने की हमारी दृष्टि में जो फरक होता है, उसी के कारण इस तरह सोचने की एक आदत-सी पड़ जाती है। हम बड़े-बूढ़े लोग अपने जीवन में इस बात की कल्पना कर-करके थर्रा उठते हैं कि 'अगर ऐसा हो, अगर ऐसा हो, तो ऐसा हो ही जाए!' और असल में जहाँ कोई दुःख नहीं होता, वहाँ भी हम दुःख का अनुभव करने लगते हैं। अपनी इसी आदत के कारण ही हमने 'ऐसा हो जाता' का एक भय अपने मन में भर रखा है। हमेशा की हमारी यह आदत आपसी कलह का एक कारण बनती है लेकिन अगर हम में सही दृष्टि से देखने की समझदारी हो, तो हम यही सोचेंगे कि 'अच्छा ही हुआ, जो ऐसा हो नहीं पाया।' चोट लगी नहीं, तो यह एक फ़ायदा ही हुआ। दियासलाई सुलगी, लेकिन उस से आग नहीं लगी, तो वह एक बड़ा लाभ ही हुआ। भूल से छुरी पर पैर पड़ गया, पर पैर कटा नहीं, तो वही एक बड़ी कमाई हो गई। चोट सीधी लगी नहीं, वार खाली गया, तो वही एक लाभ हुआ।'

दो पहलुओं में से हम अच्छे पहलू को देखें, सीधी बाजू का विचार करें, तो हम सुखी बन सकते हैं। बालकों की शिकायतें लेकर, 'ऐसा हो जाता', कहते हुए, हम किसी के साथ लड़ने-झगड़ने न जाएँ।

अलबत्ता, इसका मतलब यह नहीं कि किसी की भी मनमानी होती रहे, और हम उसकी परवाह ही न करें। अथवा कोई दुर्घटना घटने की सम्भावना हो, और तब हम दूरन्देशी से काम न लें। बात 'होने देने' की नहीं है। हो जाने पर उचित उपाय तो करना ही चाहिए। कुछ हो न जाए, इसकी चिन्ता या फिकर भी रखनी चाहिए। लेकिन जो हुआ नहीं है, मन में उसके हो जाने का भय रखकर या उसकी चिन्ता करके न तो हम खुद दुखी हों, और न बालकों के साथ या उनके माँ-बापों के साथ लड़ें और झगड़ें।

•

बालक के प्रति अश्रद्धा

छोटा बच्चा यह मानकर कि उसमें शक्ति आ चुकी है, अपनी इस शक्ति में विश्वास रखकर पतीली उठाता है और अपनी माँ को देने जाता है। माँ कहती हैं : 'तुम पतीली रख दो। यह तुम से नहीं उठेगी'।

बच्चा मेहनत करके निसैनी पर चढ़ने की शक्ति प्राप्त कर लेता है। दो सीढ़ियाँ चढ़ चुकने के बाद जब वह तीसरी सीढ़ी पर चढ़ने लगता है, तो पिता उससे कहते हैं : 'बेटे! नीचे उतरो। अभी निसैनी पर चढ़ने लायक तुम हुए नहीं हो। निसैनी पर से गिरोगे, तो तुम्हारी हड्डी-पसली टूट जायेगी।'

बच्चा अपनी अँगुलियों का ध्यान रखकर साग काट रहा है, या पेन्सिल की नोक निकाल रहा है। तभी पिता नाराज़ होकर कहते हैं : 'बेटे! चाकू नीचे रख दो। अभी तुम बच्चे हो। बड़ों का यह काम तुम क्यों कर रहे हो?'

बच्चा कहता है : 'अब तो मैं इस बड़े गड्ढे को लाँघ सकता हूँ। अब तो मैं यह इतना बड़ा पत्थर उठा सकता हूँ।' तभी अन्दर से आवाज़ आती है : 'बेटे! चींटे की कमर सँभालना।'

दरवाज़ा खुल नहीं रहा है। बच्चा कहता है : 'आप हटिए, मैं खोल देता हूँ।' सब उसको शरमिन्दा करते हुए कहते हैं : 'बेटे! यह तुम्हारे बूते का काम है नहीं।'

घर के बड़े-बूढ़े संकट के किसी अवसर पर किसी समस्या को सुलझाने में लगे हैं। यदि किसी समय कोई बालक आकर अपनी दृष्टि से समस्या का कोई हल सुझाना चाहता है, तो उसकी बात सुनकर सब कहते है : 'लो, देखो! कुम्हार से गधा अधिक सयाना है!'

लड़की दाल-साग छौंकना चाहती है। माँ, कहती हैं : 'बेटी ! तुम जल जाओगी।' लड़की कहती है : 'माँ मैं चावल बीनना चाहती हूँ।' माँ कहती हैं : 'बेटी ! तुम गिरा दोगी। तुमको चावल बीनना आता नहीं है।

बार-बार इस तरह की बातें कहकर हम बालक के मन में अपने प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करते रहते हैं। बालक अमुक समय में अमुक काम सीखना चाहते हैं। उस समय का उनका उत्साह ज़बरदस्त होता है। नया-नया जानने की वृत्ति उनके अन्दर से प्रकट होती है, इसलिए वे हर काम में अपनी दिलचस्पी दिखाते हैं, और इसी कारण वे अपना काम पूरी एकाग्रता से करते हैं। ऐसे समय में वे अपने आपको पूरी फिकर के साथ सँभाले रहते हैं। ऐसी स्थिति में जब उनसे कहा जाता है कि वे अमुक काम को इस या उस रीति से करें, तो वे भूल से बचने के लिए असाधारण सावधानी रखकर काम पूरा करते हैं। जब अपने विकास के लिए आवश्यक कोई काम उनको मिलता है, तो उनके चेहरे पर आनन्द छलकने लगता है, और उनका शरीर चेतना से भर उठता है। जैसे-जैसे वे काम करते जाते हैं, वैसे-वैसे पल-पल में काम करने की अपनी शक्ति में उनका विश्वास बढ़ता रहता है। इस बढ़े हुए विश्वास के कारण ही बालक हम से कहते हैं : 'हम यह काम कर सकेंगे। इसको हमें करने दीजिए। हम इसको करना जानते हैं !' यदि हम उनको काम करने से रोकते हैं, तो अक्सर वे हम से झगड़ते हैं, और हमारी मार भी खाते हैं।

किन्तु इस तरह बार-बार मना करने से, और यह कहते रहने से कि तुम यह काम नहीं कर सकोगे, बालक अपना आत्मविश्वास खो बैठता है। इसके बाद तो वह खुद काम करने से ही डरने लगता है। काम शुरू करते समय उसको अपने माँ-बाप की बातें याद आती है, और वह काम करना छोड़ देता है। वह खुद यह मानने लगता है कि सचमुच उससे यह काम होगा ही नहीं। जब कोई उससे कहता है : 'बेटे ! सुनो, वह पाटा यहाँ ले आओ ! तो वह पाटा लाने से इन्कार कर देता है। यदि ज़बरदस्ती की जाती है, तो पाटा उसके हाथ से छूट कर गिर पड़ता है और तब बालक रोने लगता है।

कारण पूछने पर पता चलता है कि बालक यह मानने लगा है कि यह काम उससे हो नहीं सकता। ऐसी हालत में वह उस काम को कर कैसे सकता है ?

मुझ को ऐसे कई उदाहरणों की याद है। उनमें से एक ही उदाहरण यहाँ देना काफी होगा। चन्द्रशेखर की मां ने उनके अन्दर अविश्वास की भावना भर दी थी। मैंने उनसे कहा : 'भैया ! चलो, हम इस पुल पर चलें।'

वे बोले : 'मैं नहीं चल सकता। मैं डूब जाऊँगा।'

मैंने पूछा : 'डूबने की बात किसने कही है ?'

वे बोले : 'मेरी माँ ने कही है।'

मैंने कहा : 'चन्द्रशेखर भाई ! वह पत्थर उठा आओ।'

वे बोले : 'मैं नहीं उठाऊँगा।'

मैंने पूछा : 'क्यों नहीं उठाएँगे !'

वे बोले : 'मुझ से वह उठेगा नहीं।'

मैंने पूछा : 'आपने यह बात कैसे जानी ?'

वे बोले : 'मेरी माँ ने कहा है कि मुझसे यह उठेगा नहीं।'

मैंने कहा : 'लेकिन मैं कहता हूँ कि आप इसको उठा सकेंगे। आइए, हम उठा कर देखें।'

अन्त में उनके साथ रहकर जब मैंने उनको विश्वास करा दिया कि वे इस काम को कर सकते हैं. तो वे सहज ही हँसे और फिर किसी विचार में डूब गए।

उस दिन से चन्द्रशेखर के जीवन में बहुत परिवर्तन हुआ। उनमें खोई हुई श्रद्धा की किरणें फिर प्रकट होने लगी।

बालकों में अश्रद्धा उत्पन्न करके हम उनको शक्तिहीन बना डालते हैं। असल में बालकों के प्रति हमारा अविश्वास या हमारी अश्रद्धा हमारे अपने अविश्वास और हमारी अपनी अश्रद्धा की सूचक है।

हमको अपने बालकों में विश्वास रखने की अपनी शक्ति और अपने साहस का विकास करना चाहिए। यदि हम उनमें थोड़ी भी श्रद्धा रखेंगे, तो वे हमको यह प्रतीत करा ही देंगे, कि वे बहुत अधिक श्रद्धा के पात्र हैं। बालक छोटा है, पर वह मनुष्य है, और अपनी मनुष्यता का विकास करने के प्रयत्न में लगा है। हमारा काम है कि हम बालक में विश्वास रखें, और आगे बढ़ने में उसकी मदद करें। बालक हमारे विश्वास का अधिकारी है। हम उसको विश्वास दें।

टोका टोकी

जिनको बार-बार दवा खाते रहने की आदत पड़ चुकती है उन पर दवा या तो बहुत ही कम असर करती है, या बिलकुल नहीं-जैसा ही असर करती है। डॉक्टर को रोज-रोज दवा की मात्रा बढ़ानी ही पड़ती है। अपने ऐसे बीमारों को डॉक्टर 'क्रॉनिक पेशेण्ट्स' कहते हैं। डॉक्टर दवा देते रहते हैं। बीमार लोग दवा पीते रहते हैं। बीमारी आगे बढ़ती रहती है और जिन्दगी घटती रहती है।

इसका कारण क्या है? मूल कारण है, आदमी का बीमार पड़ना। यदि आदमी ने अपने स्वास्थ्य को सँभाला होता, तो उसको दवा पीनी ही न पड़ती। दूसरा कारण यह है कि डॉक्टर ने उसको स्वस्थ रहने का रास्ता न दिखाकर सिर्फ उसकी बीमारी मिटाने का प्रयत्न किया। तीसरा कारण यह है कि जैसे-जैसे बीमारी दूर हुई, वैसे-वैसे दवा की ज्यादा-से-ज्यादा तेज खुराकें दी गईं। अब डॉक्टर और शरीर-शास्त्री मानने लगे हैं कि इन उत्तेजक दवाइयों से और इनके मन्द परिणामों से मुक्ति प्राप्त करने के लिए दवाखानों के बदले आरोग्य-सदनों का निर्माण किया जाना चाहिए, और अब डॉक्टरों की जगह आरोग्य-शास्त्रियों को ले लेनी चाहिए। दवा के लिए दौड़ने वाले बीमार को दवा के बदले पहले से ही शुद्ध हवा का लाभ देना चाहिए।

इस विचारधारा को ध्यान में रख कर बाल-शिक्षा के क्षेत्र में हम टोका टोकी के स्थान पर विचार करें। माँ-बाप बार-बार हम से पूछते रहते हैं: 'भैया! अपने इन बच्चों का अब हम क्या करें? हम कह-कहकर थक जाते हैं, पर ये बच्चे हैं कि हमारी कोई बात सुनते ही नहीं। एक बार कही गई बात को तो बिलकुल अनसुनी ही कर देते हैं! जब पाँच-पचास बार

कहते है, तब कहीं ये थोड़ा ध्यान देते हैं। आखिर इसका इलाज क्या है? इनको जितना ज्यादा कहते हैं, ये उतनी ही ज्यादा अनसुनी करते हैं!'

हम ऊपर देख चुके हैं कि दवाइयाँ जितनी ज्यादा ली जाती हैं, उनको उतनी ही अधिक मात्रा में लेना ज़रूरी हो जाता है, और तभी उनका थोड़ा असर होता दिखाई पड़ता है। टोका टोकी के मामले में भी यही स्थिति बनती है। हम बालकों को जितना ज्यादा टोकते हैं, टोका टोकी की मात्रा उतनी ही ज्यादा बढ़ती जाती है। जिस तरह लम्बे समय के बाद दवा अपना कोई असर नहीं दिखाती, उल्टे, वह कोठे पड़ जाती है, उसी तरह जब लम्बे समय तक एक ही बात बार-बार कही जाती है, तो सुनने वाले पर कहे हुए शब्दों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सुनने वाला सुन-सुनकर इतना 'रीढ़ा' या पक्का हो जाता है कि वह सोचने लगता है: 'भई, ये तो कहते ही रहते हैं। दिन भर इनकी एक ही रट चलती रहती है। ये अपनी आदत से लाचार हैं। हम तो जो कहते रहे हैं, बस, वही करते रहें!' लगातार टोकते रहने से बालक में एक ऐसी मानसिक वृत्ति उत्पन्न हो जाती है।

असल दोष इस बात में है कि बालक के साथ व्यवहार कैसे किया जाए? अधिकतर तो बालक हमारी बात सुनने और खुशी-खुशी वैसा करने के लिए तैयार होता है। उसके मन की सहज वृत्ति तो स्वस्थ होती है। उल्टे, वह तो मना करने पर भी काम करने के लिए दौड़ पड़ता है! यदि हम उसको काम नहीं करने देते, तो वह रोने लगता है। किन्तु हम ही उसकी इस स्वस्थ और सहज वृत्ति को अस्वस्थ, रुग्ण अथवा विकृत बना देते हैं। जिस समय हम बालक में सहज रूप से पाई जाने वाली काम करने की, कहा हुआ काम करते रहने की और हमारी बात को सुनने की वृत्ति को रोकते हैं, उसी समय से बालक को रोकने-टोकने का सिलसिला शुरू हो जाता है। एक बार जब हम बालक के सहज उत्साह को रोक देते हैं, तो उसका मन बैठ जाता है, उसको एक आघात पहुँचता है, उसकी दिशा बदल जाती है, उसके कान बन्द हो जाते हैं, उसके अन्तर में हमारी आवाज़ का पहुंचना बन्द हो जाता है। हमीं ने अपने व्यवहार से उसके कानों को बहरा बनाया, और फिर हम ही

शिकायत करने लगे कि बालक हमारी बात सुनता नहीं है! आगे हम ही इसके उपाय की खोज में निकल पड़े! हमींने बालक को बीमार बनाया और बीमारी की दवा देनी शुरू कर दी। लेकिन असल सवाल तो यह है कि जो बीमारी शुरू हो गई है, उसका क्या किया जाए? जैसे-जैसे टोका टोकी की अपनी खुराक हम बढ़ाते जाते हैं, वैसे-वैसे बालक अधिक-से-अधिक संवेदन-शून्य बनता जाता है। हमारी बात न सुनने और न मानने का मानसिक रोग इसी कारण उसके मन में अपनी जड़ जमा लेता है। इसमें सन्देह नहीं कि हर बढ़ी हुई खुराक के साथ बालक कुछ समय तक हमारी बात सुनेगा, हमारा कहा मानेगा। किन्तु जिस तरह दूसरी उत्तेजक औषधियों के कारण अन्त में शरीर शिथिल होने लगता है, उसी तरह गालियों आदि से या टोका टोकी से उत्तेजित हुआ मन फिर शिथिल बन जाता है, और अधिक शिथिल या मन्द होने पर वह अधिक टोका टोकी की अपेक्षा रखने लगता है। आखिर एक समय ऐसा भी आता है कि बालक सदा के लिए हमारे हाथ के बाहर चला जाता है फिर तो उस पर किसी भी शब्द का कोई प्रभाव नहीं पड़ता— ठीक उसी तरह जिस तरह अन्त में कोई भी दवा रोगी के पेट में टिक ही नहीं पाती!

टोका टोकी के इन उत्तेजकों से हम अपने बालक को सदा दूर ही रखें। हम उसको दवा के बदले हवा दें। जब वह सहज भाव से हमारा कहा करने को और हमारी बात सुनने को तैयार होता है, उस समय हम वैसा करने की उसकी रुचि, वृत्ति और शक्ति को बढ़ावा दें, और जब वैसा करने की उसकी इच्छा न जागे, तो ऐसे समय हम उसको अपने दबाव से मुक्त ही रखें।

•

दिला दो !

विमला रोती-रोती माँ के पास पहुँची और बोली : "माँ ! मुझको कमला से कैंची दिला दो !"

विमला छोटी थी। कमला बड़ी थी। कमला कैंची से काग़ज़ कोर रही थी। विमला भी काग़ज़ कोरना चाहती थी।

माँ ने ऊँची आवाज़ में कहा ; "सुनो कमला ! विमला को कैंची दे दो।"

कमला बोली : "माँ, मुझको काग़ज़ कोरने हैं। मुझको तरह-तरह की आकृतियाँ बनानी हैं।"

माँ ने कहा : "तुम देखती नहीं हो कि विमला रो रही है ? तुम इतनी बड़ी हो गई हो। अपनी छोटी बहन को रुलाने में तुमको शरम नहीं आती ?"

कमला को कैंची देनी पड़ती है। विमला कैंची लेकर काग़ज़ काटने बैठ जाती है।

कमला चित्र बना रही है। पानी के रंगोंवाली पेटी और पी'छी उसके सामने पड़ी है। विमला कमला के पास जाकर बैठती है, और कहती है : 'मुझको पी'छी दो।'

कमला ने कहा : "मैं नहीं दूँगी। मुझको चित्र बनाने हैं। तुम इस पेटी का उपयोग करना जानती नहीं हो।"

विमला बोली : "मैं माँ से कहकर यह पेटी तुमसे ले लूँगी। तुम नहीं दोगी, तो मैं माँ से कहूँगी। फिर देखना, माँ दिलाती हैं या नहीं ?"

विमला ने माँ से कहा : "माँ ! कमला से कहकर रंगों की यह पेटी और पी'छी मुझको दिला दो न ! मैं चित्र बनाना चाहती हूँ।"

माँ बोलीं : "तुम तो अभी छोटी हो। भला, तुम चित्र कैसे बनाओगी ?"

विमला ने कहा : "ऊँ-ऊँ-ऊँ ! मुझको चित्र बनाने हैं। जब दीदी चित्र बनाती हैं, तो मैं क्यों न बनाऊँ ? मुझको पेटी और पी'छी दिला दो।"

माँ बोली : "बेटी कमला ! इस विमला को तुम थोड़ी देर के लिए अपनी पेटी और पी'छी दे दो न ?' यह भी चित्र बनाना चाहती है।"

कमला ने कहा : "लेकिन अम्माजी ! यह विमला तो पेटी के सारे रंग खराब कर देगी। यह चित्र बनाना जानती कहाँ है ? तुम कहो, तो मैं इसको अपने पास बैठा लूँ, और अपने ये चित्र इसको दिखाऊँ।"

माँ बोली : "बेटी कमला! थोड़ी देर के लिए इसको दे दो न ? इसका रोना-मचलना बन्द तो हो।"

कमला ने कसैला मुँह बनाकर अपनी पेटी और पी'छी विमला को दे दी।

विमला ने कहा : "लो, देखो, तुम तो नहीं देना चाहती थीं न ? अम्माजी से कहकर मैंने ले तो लिए न ?"

जब छोटे बच्चों को बड़े बच्चों से कुछ लेना होता है, तो वे अपनी माँ की शरण में जाते हैं। माँ छोटे बच्चे का पक्ष लेती है। इस विचार से कि बालक छोटा है, माँ या तो उसको अधिक चाहती है, या बच्चे का रोना उससे सहा नहीं जाता, या वह उसका मचलना देख नहीं पाती, या कुछ माँगने के लिए आए हुए बालक को वह अपने पास से हटाना चाहती है, या यह मानकर कि छोटे बालक को तो हमेशा ख़ुश ही रहना चाहिए, बड़े लोग भले ही थोड़ा सहन कर लिया करें, पर छोटे बच्चों की माँग या इच्छा तो पूरी करनी ही चाहिए, माँ ऐसा व्यवहार करती दिखाई पड़ती है। इस प्रकार अलग-अलग कारणों से माँ छोटे बच्चे को हमेशा कुछ-न-कुछ दिलाती रहती है। कोई माँ अपने बड़े बच्चे को हुक्म देकर, उस पर थोड़ा ज़ुल्म करके, उसकी पिटाई कर के भी छोटे बालक को उसकी मनचाही चीज़ दिला देती है, तो कोई माँ अपने बड़े बालक को समझाकर और फुसलाकर या कोई लालच देकर छोटे को

उसकी चाही चीज दिलवा देती है। कोई माँ कभी कोई चीज़ दिला देती है, और कभी दिलाने से इनकार भी कर देती है। लेकिन जब छोटा बालक जिद् पकड़ता है, तो वह उसको फिर दिला भी देती है। कोई माँ बड़े बालक की आवश्यकता को उचित मानकर पहले तो दिलाने से इनकार करती है, लेकिन बाद में छोटे बालक की ज़िद्, रुलाई या दुःख से विवश होकर उसको उसकी मनचाही चीज़ दिला देती है।

इस तरह अपनी माँ की मदद से छोटा बच्चा बड़े बच्चे पर बार-बार हावी होता रहता है, और फिर वह बहक जाता है। बस, उसके मन में यह विचार आने की देर भर कि उसको किसी से कुछ ले लेना है। 'दिला दो' के अपने अनुभव के भरोसे वह मान लेता है कि माँ उसको उसकी चाही हुई चीज दिला ही देंगी। शायद माँ उसकी ज़िद् के लिए उसको मार भी दें, लेकिन अन्त में वे उसको उसकी चीज़ दिला तो देंगी ही! ऐसा बालक 'दिला दो' की बुराई में फँस जाता है। इसी कारण वह एक अत्याचारी बन जाता है। वह दूसरे बालक की जरूरत को देखता नहीं, उसकी बात सुनता नहीं और उस पर विचार करता ही नहीं। दूसरों की भावना का सम्मान करने का विवेक उसमें रहता ही नहीं। एक कमज़ोर सत्ताधारी के हथियार के रूप में रोकर और ऊधम आदि मचाकर वह अपनी विचार-शून्य और विवेकशून्य अथवा कच्चे मनवाली माँ पर अपना प्रभुत्व जमा लेता है। उसका स्वभाव एक सत्ताहीन, पराई ताक़त पर निर्भर करने वाले और निरंकुश व्यक्ति का-सा बन जाता है। 'कमज़ोर और ग़ुस्सा भारी' वाली कहावत उस पर पूरी तरह लागू होती है।

जो बालक इस 'दिला दो' वाली बात में सफल होता रहता है, वह न केवल अपने विवेक और विचार से हाथ धो बैठता है, बल्कि ख़ुद भी वह गुलाम बन जाता है। वह अपनी पात्रता अथवा योग्यता का विचार नहीं करता। उसके मन में यह भ्रम उत्पन्न हो जाता है कि वह जिस चीज़ की माँग कर रहा है, उसके लायक वह ख़ुद है। और जब उसको उसकी चाही चीज नहीं मिलती, तो वह किसी-न-किसी की शरण में जाता है, और शरण देने वाले का दास बनता है।

'दिला दो' के रास्ते पर चलने वाला बालक चाहता है कि दूसरा कोई उसके लिए कुछ कर दिया करे और न करे, तो वह उससे लड़ ले। लेकिन वह यह कभी समझता ही नहीं कि उसको ख़ुद कुछ करना चाहिए या उसके लिए ख़ुद ही लायक बनना चाहिए। इसका परिणाम यह होता है कि जब उसको कोई दिला देने वाला नहीं मिलता, अथवा कोई देने वाला नहीं मिलता, तो वह बहुत दुखी हो उठता है, और हैरान-परेशान रहने लगता है।

ऐसा बालक अपनी बड़ी उमर में बहुत दुःख के साथ यह समझ पाता है कि इस दुनिया में लायक आदमी के लिए सब कुछ सुलभ है। तब उसको यह बात अखरने लगती है कि 'दिलादो' की अपनी आदत के कारण वह तैयार भोजन तो खाना सीख गया, पर ख़ुद कुछ पाने और कमाने लायक बन नहीं सका। 'दिला दो' की अपनी इस आदत के कारण वह झूठे अभिमान वाला और दूसरों पर अपना प्रभुत्व जमाने वाला तो बन गया, पर इसके कारण वह स्वाभिमान से कोसों दूर चला गया। माता-पिता को चाहिए कि वे अपने बालक को 'दिलादो' की इस लत से बचा लें। हम जिनको दिला देते हैं, वे स्वार्थी और निरंकुश बन जाते हैं, और जिन से दिलाते हैं, उनके साथ अन्याय होता रहता है। इस ग़लत व्यवहार के कारण भाई-भाई के या भाई-बहन के बीच मेल-मिलाप के बदले दुश्मनी खड़ी हो जाती है। एक सोचता है कि माँ उसको चाहती हैं, और दूसरा मानता है कि उसकी माँ बुरी हैं। वे उसको हैरान करती रहती हैं। वे उसकी ही चीज़ छीनती रहती हैं! चाही हुई चीज़ दिला देने के बाद बालक आपस में लड़ने लगते हैं और एक-दूसरे से कहते हैं: 'तुम मुझको देना नहीं चाहते थे न लो, देखो, मैंने तो ले ही लिया!' सुनते ही दूसरा बालक चिढ़कर या तो मारने दौड़ता है, या दुखी बनकर गालियाँ देने लगता है, या रोना शुरू कर देता है। इस सबका नतीजा यह होता है कि हम अपने ही बालकों के बीच दुश्मनी पैदा कर देते हैं।

माता-पिता के नाते इस विषय में हमको बहुत सावधनी बरतनी चाहिए। जब घर में दो-चार बालक होते हैं, तो उनमें देखा देखी की वृत्ति सहज होती है। किन्तु हमेशा देखा देखी से काम करना लाभ दायक नहीं

होता। जब कोई बालक अपनी योग्यता से आगे बढ़ कर कोई काम करना चाहता है, तो उससे उसको नुक़सान ही होता है। अपनी कुछ योग्यता के साथ किया गया अनुकरण तो सीखने के प्रयत्न का रूप ले लेता है। बड़े बच्चे जो काम करते हैं, जब छोटे बच्चे उनको कर नहीं सकते, उनमें उनको करने की शक्ति आ ही नहीं सकती ऐसी हालत में भी जब वे वैसे काम करना चाहते हैं, तब उन कामों के लिए हम उनको बड़े बच्चों की कोई चीज़ कभी दिलाएँ ही नहीं। या तो हम उनको बड़े बच्चों का काम देखने के लिए उनके पास बैठने दें, या उनको उनके काम में सहायक बना दें। जैसे, यदि बड़े बच्चे चित्र बना रहे हों, तो छोटे बच्चे पानी लाने या पींछी धो देने का काम सँभाल लें, अथवा उस काम के बदले वैसा ही दूसरा कोई काम उनको दे दें। किसी भी स्थिति में दूसरे की कोई चीज़ उनको कभी दिलाएँ नहीं।

जब हमको लगे कि बालक जो चीज़ चाहता है, वह उसके लिए जरूरी है, तो भी बालक के चाहने-भर से हम उसको वह चीज़ दिला न दें। बालक को अपनी चाही चीज़ के मिल जाने से जो लाभ होता है, उसकी तुलना में दिलवा देने की आदत का पड़ना बालक के लिए अधिक हानिकारक है। बालक को वैसी दूसरी कोई चीज़ दी जा सकती हो, तो भले दे दी जाए, नहीं तो उससे कहा जाए कि अपनी बारी आने तक वह बाट देखे। हम ढेरों चीजें चाह सकते हैं, लेकिन जीवन का व्यवहार ही ऐसा है कि अपनी मनचाही चीजें हमको तुरन्त ही मिल नहीं सकतीं। अपनी इसी उमर में बालक को इस साधारण नियम की जानकारी हो जाए, तो अच्छा ही हो। यदि हम बालक को दूसरी कोई चीज़ दे न सकते हों, अथवा बालक जो चाहता है, वह उस चीज़ को पाने योग्य नहीं है, तो भले ही हम उसको विवशभाव से रोने दें, लेकिन दूसरे से उसकी चाही चीज़ तो उसको हरगिज़ न दिलाएँ।

दूसरे से उसकी चीज़ दिला देना हमारे लिए आसान होता है। बड़े बालक को हुक्म दिया जा सकता है। उसको सरलता से समझाया भी जा सकता है। अथवा अपनी मनमानी करने के लिए उसके साथ अत्याचार भी किया जा सकता है। इन कारणों से 'दिला देने' के लोभ में पड़ कर हम माँगने

वाले बालक के लिए सच्चा रास्ता खोजना पसन्द नहीं करते। उसके लिए ज़रूरी मेहनत नहीं करते। किन्तु ऐसा करने से जहाँ छोटा बालक कुछ समय के लिए ख़ुश होकर हम पर प्रसन्न हो जाता है, वहीं, उसी समय, बड़ा बालक हम पर से अपना विश्वास और प्रेम दोनों खो देता है। 'दिला देने' की जो शक्ति हम में है, उसका उपयोग करने में शाहीपन है, तो उसका रास्ता खोजने में सयानापन है।

फिर भी अकसर ऐसे नाजुक मौक़े आ खड़े होते हैं कि जब हमको न तो छोटे बच्चे की माँग को नामंजूर करना मुनासिब लगता है, और न बड़े बच्चे से उसकी कोई चीज़ ले लेना न्यायोचित मालूम होता है। तिस, पर भी हम चाहते तो यही हैं कि दोनों बच्चों के मन ख़ुश रहें। दोनों की इच्छाएँ पूरी हों। ऐसी स्थिति में हम उनको परस्पर सहयोग करने की ऐसी युक्ति सुझा दें कि दो में से किसी के भी मन पर यह छाप न पड़े कि उसको कोई चीज़ दिला दी गई है या उससे कोई चीज़ ले ली गई है। दोनों को मानसिक सन्तोष मिलना चाहिए। यह काम या तो दोनों को किसी तीसरे काम में लगा देने से हो सकता है, अथवा दोनों को उसी काम में से कोई नया काम दे देने से हो सकता है।

बालक के मन में हम यह विचार पैदा न होने दें कि क्योंकि हम बड़े हैं, इसलिए हम चीज़ें दिला सकते हैं और अपना मनचाहा न्याय कर सकते हैं। इससे अच्छा तो यह है कि जहाँ हमारा बस न चले, वहाँ हम बालकों से कह दें: 'जाओ, तुम को जो ठीक लगे, सो तुम करो। मैं इस बारे में तुमसे कुछ नहीं कहूँगा।' उस हालत में भले ही दोनों आपस में लड़-झगड़ कर तय करें कि किसको क्या लेना है और क्या देना है! शायद इसमें सही न्याय न हो, फिर भी इसमें हमारे पक्षपात पूर्ण न्याय की कोई सम्भावना रहेगी ही नहीं! अकसर देखा गया है कि जब हम बालकों को उनके अपने झगड़े आपस में ही निपटा लेने की स्वतंत्रता दे देते हैं, तो वे आपस में टकराकर जल्दी ही किसी ठीक परिणाम पर पहुँच जाते हैं। इसके विपरीत, जब हम उनके बीच में पड़ते हैं, तो बालकों में असन्तोष उत्पन्न होता है और वे एक-

दूसरे के दुश्मन बन जाते हैं। अच्छा यही है कि आपस में टकराकर वे एक-दूसरे के मित्र बनें और इस बात को स्वयं समझें कि वे अपनी इच्छा और मर्यादा को कैसे सँभालें।

संक्षेप में, दिला देने की रीति उचित नहीं लगती इसलिए हम उसको छोड़ ही दें।

•

गोद पसन्द बालक

घर में बातें चल रही थीं। चम्पा की माँ ने पूछा : 'इन्दुबहन, यह रमा जब छोटी थी, तो यह 'दोद' यानी गोद गोद कहा करती थी। गंगा की भी यही आदत रही। नटवर भी यही कहता रहा। लेकिन अकेली यह चम्पा ही ऐसी है, जिसने कभी गोद की बात नहीं कही। उलटे, जब हम इसको गोद में उठाते हैं, तो अपने पैर चलाकर यह कहती है : 'मुझको नीचे उतलना है, मुझको नीचे उतलना है।' रवि जब छोटा था, तो उसको भी गोद में चढ़ना पसन्द नहीं था। भला, इसका कारण क्या है?'

कुछ देर तक सोचने के बाद इन्दुबहन ने कहा : 'चम्पा की माँ, एक कारण तो स्पष्ट ही है। अपने बालकों के बारे में तो मुझको यह एक ही कारण समझ में आ रहा है। दूसरों के अनुभव जानने पर बात अधिक चौकसाई के साथ कही जा सकती है।'

चम्पा की माँ : 'कहिए, क्या कारण है?'

इन्दु : 'मुझको तो इसमें नौकर ही कारण-रूप मालूम होते हैं। जिन दिनों रवि छोटा था, हमारे घर में कोई चपरासी नहीं था। जब हम उसको घुमाने ले जाते थे, तो वहाँ भी वह अपने पैर हिलाकर नीचे उतर जाता था, और हम उसको पैदल चलने देते थे। उन दिनों हमारे पास काम भी इतना नहीं था कि हमको घर लौटने की जल्दी होती, और इस कारण हम उसके पीछे-पीछे चल न पातीं। रवि हमारे परिवार का पहला बालक था, इसलिए वह हम सबका बहुत लाड़ला भी था। उन दिनों हम अपने बालकों के लालन-पालन के बारे में अधिक समझती नहीं थीं, पर रवि की छोटी-छोटी बाल-सुलभ क्रीड़ाओं को देखने में हमको बहुत मज़ा आता था। वह अपने नन्हें-नन्हें

पैर जमाता हुआ आगे-आगे चलता था, और हम उसके पीछे-पीछे चला करते थे। कहीं वह चींटियों को देखने के लिए खड़ा रह जाता था, तो हम भी उसके पीछे खड़े हो जाते थे। मोर को देखने के लिए जब वह तालाब की पाल पर बैठ जाता, तो हम भी उसके पास ही बैठ जाते थे। उसको गोद में उठाने की ज़रूरत नहीं थी, और हम उसको उठाते भी नहीं थे। यही कारण है कि वह गोद-पसन्द बना नहीं। लेकिन रमा के जन्म के समय तो घर में नौकर आ चुका था। जब दूसरों के बच्चों को उनके नौकर गोद में उठाते, और वे उनको घुमाने ले जाते, तो उनको वैसा करते देखकर तुम्हारे मन में भी यह मोह जागा कि अपने बालक को अपने पैरों न चलने दिया जाए। तुमने इस बात में अपनी शान और शोभा मानी कि नौकर तुम्हारे बालक को अपनी गोद में उठाकर तुम्हारे पीछे-पीछे चले। तुमने मान लिया था कि इससे बच्चा भी खुश रहेगा। नौकर के कारण मिले अपने बड़प्पन का भूत तुम्हारे मन पर सवार हो चुका था। हमने अपनी आँखों देखा है कि रमा को खुद चलने का कितना ज्यादा शौक था। घर के पास वाली सीढ़ियों पर वह कितनी बार चढ़ती और उतरती रहती थी? लेकिन जब नौकर ने उसको अपनी गोद में उठाना शुरू किया, तो गोद में चढ़ने वाले उसके पैर हरामखोर बन गए। उसने अपने पैरों चलने का आनन्द और शक्ति दोनों गँवा दिए! उसके पैरों के तलुए मुलायम बन गए। उसको भी इस बात का अन्दाज़ हो गया कि नौकर की गोद में चढ़ने में कोई बड़प्पन है। इसके कारण तन के साथ उसका मन भी हरामी बन गया। बाद में तो घर में रहते हुए भी वह कहती : 'दोद में लो, दोद में लो।' उसकी इस आदत को छुड़ाने में उसको कितनी बार रोना पड़ता था? और यह काम हमारे लिए भी कितना कठिन हो गया था?'

चम्पा की माँ : 'बहन बात तो सच है।'

इन्दु : 'हमको एक बार का अनुभव हो चुका था, फिर भी गंगा और नटवर तो वैसे ही गोद-पसन्द बन चुके थे। रमा के मामले में हमको इससे होने वाली हानि का थोड़ा बहुत पता तो चल गया था, फिर भी अपने पड़ोसियों की देखा देखी हमारे घर में भी नौकरों की शरण ज्यों-की-त्यों बनी रही।

हम पर काम-काज का कुछ बोझ अधिक बढ़ा। हमने माना कि अगर नौकर बालकों को सँभाल लेंगे, तो हम अपना काम कुछ अधिक और अच्छा कर सकेंगी। इस विचार से हमने गंगा और नटवर को नौकरों के हाथों में अधिक रहने दिया। नौकरों को तो अपना सारा काम समय पर पूरा करना होता ही है। जब वे बच्चों का मन देखकर उनके पीछे-पीछे चलते हैं, तो हम ही उनको कहते हैं : 'इनके पीछे तुम अपना समय क्यों बरबाद कर रहे हो?' ऐसी हालत में नौकर को तो बालक को अपनी गोद में लिए-लिए ही सारे काम करने होते हैं। इस कारण बालक को एक ग़लत आदत पड़ जाती है, और बालक इसी को अपना एक वैभव मानने लगता है। इस तरह हमारे ये बालक भी इस वैभव के दास बने। ऐसी स्थिति में यदि नौकर उनको अपनी गोद में न उठाएँ, तो सिवाय रोने के वे और कर ही क्या सकते हैं? फिर अपने बालक का रोना सुनकर हम नौकर पर नाराज़ होते ही हैं। इस तरह हमारे बालक गोद-पसन्द बन जाते हैं। हमारे इन बालकों का लालन-पालन भी इसी रीति से हुआ था, और इसी के फलस्वरूप ये ग़ुलाम बने थे'

चम्पा की माँ : 'इन्दुबहन, बात तो सच ही है। और असल में हुआ भी यही था।'

इन्दु : 'इसके बाद हमको नौकरों से छुट्टी मिली, और नौकर हमारे बालकों से अलग हुए। आज चम्पा को गोद में उठाने वाला कोई है नहीं। हमने भी बचपन से उसको जहाँ, जितना चलना हो, चलने ही दिया है, इसलिए वह चलने की शौक़ीन बन गई है। दूसरे बालकों को गोद में चढ़ा देखकर चम्पा कभी-कभी रूठती और मचलती है, पर जब हम उसको गोद में उठाते नहीं हैं, तो थोड़ी देर तक मचलने के बाद वह खुद चुप हो जाती है। कभी-कभी तो जब कोई उसको अपनी गोद में उठा लेते हैं, तो वह 'उतारो', 'उतारो' की पुकार मचाकर अपने हाथ-पैर हिलाने लगती है। अकसर जब जल्दी के कारण हमको तेज गति से चलना होता है, तो हम उसको गोद में उठाने से पहले सारी बात समझा देते हैं, इसलिए ऐसी स्थिति में गोद में सवार होना उसको बन्धन-रूप नहीं लगता। चम्पा तो गोद में चढ़ने की आदत से बच गई है। क्योंकि अब अनुभव से हम सब कुछ सीख चुके हैं, और

घर में नौकर भी रहा नहीं है। अब तो नौकर के आने पर भी हम चम्पा को उसकी गोद में कभी चढ़ने ही नहीं देंगे। बचपन में बालक चलने की हलचल करके मन को आनन्द के साथ-साथ अपने शरीर को व्यायाम का लाभ देता है। अपने जिन मजबूत पैरों से हम इतने चल-फिर सकते हैं, उन पैरों को बचपन में इसकी खासी तैयारी करनी होती है, और यह तैयारी तो चलकर ही की जा सकती है। इसके लिए बालक को चलने की पूरी स्वतंत्रता चाहिए। लम्बी-चौड़ी जगह भी चाहिए। जहाँ-जहाँ माता पिता बालकों को खुद चलने देने के बदले उनको गोद में लेकर घूमते हैं, और इसको बालक के प्रति अपना प्रेम समझते हैं, वहाँ-वहाँ बालक को इससे नुक़सान ही होता है। किसी विशेष निमित्त से, जैसे, बीमारी की हालत में, या स्टेशन पहुँचने की जल्दी के कारण बालक को गोद में उठा लेने की बात एक अलग बात है।'

चम्पा की माँ : 'इन्दुबहन, आप सच ही कह रही हैं।'

अन्धविश्वास की शिक्षा

घर के छप्पर पर बैठा पण्डुक बोल रहा है।

माँ कहती हैं : 'सुनते हो ? हमारे छप्पर पर पण्डुक बोल रहा है। रोज रोज पण्डुक का बोलना अच्छा नहीं होता।'

पिताजी पत्थर मार कर पण्डुक को उड़ा देते हैं। छोटा बच्चा देखता रहता है।

गाँव से लौटकर पिताजी कहते हैं : 'बस एक धरम धक्का ही लगा। मैं जानता ही था कि काम बनेगा नहीं, क्योंकि सामने एक विधवा मिल गई थी।'

रात पड़ी। खूसट बोलने लगा। माँ बोली : 'अररर ! यह खूसट तो न जाने क्या बोल रहा है। पता नहीं, कल का दिन कैसा बीतेगा ? लगता है, यह खूसट तो हमारे पीछे ही पड़ गया है।'

कुत्तों को भगाती हुई पड़ोसिन कह रही है : 'अरे, इन कुत्तों को तो देखो। ये किस बुरी तरह रो रहे हैं। जरूर ही कोई अनहोनी होने वाली है।'

बुआजी बोली : 'आज तो यह तवा हँसा। जरूर ही कोई मेहमान आएँगे।'

रात ब्यालू के बाद गली की बहनें इकट्ठा होती हैं। वे नितनई गप हाँकती रहती हैं। 'ना, मैया ! जहाँ ऐसे घेरे बने रहते हैं, उनमें तो बालकों को अपने पैर नहीं रखने देने चाहिए।' 'पता नहीं अब मेरा यह घर कैसा हो गया है। इसमें किसी का शरीर स्वस्थ रहता ही नहीं है।' इस केसर बहू की नजर तो बहुत ही कड़ुई है। आज मैं अपने घर में बैठी खीर खा रही थी,

तभी वह अचानक आ पहुँची । बोली : 'बहन ! खीर तो बहुत अच्छी बनी है ।' बस, इतना कह कर वह तो चली गई, पर उस राँड की नजर को क्या कहा जाए ? मैं तो उलटियाँ कर-करके हैरान हो गई ।'

घर में माँ-बाप अपने बच्चों से कहते हैं, 'देखो, इस समय गधे का नाम मत लो ।' 'अरे आज सबेरे-सबेरे तुमने इस निपानिया गाँव का नाम कहाँ ले लिया ! अब शाम तक तुम को रोटी नहीं मिलेगी ।' 'सुनो रमेश ! शाम के समय उत्तर की तरफ पाँव रख कर क्यों सोए हो ? उठो, खड़े हो जाओ ।'

ये सब निरे अन्धविश्वास हैं । कोरमकोर वहम हैं । अपने आस-पास और अपने बीच रहने वाले बालकों को हम हर घड़ी इन वहमों का ही पान कराते रहते हैं । ये वहम हमको अपने माता-पिता से मिले हैं । हम इन्हीं अन्धविश्वासों अथवा वहमों को पीढ़ी-दर-पीढ़ी, जाने-अनजाने, अपने बालकों में सींचते रहते हैं । हमने अपने माता-पिता से पूछा : 'अगर कोई साँप हमारा रास्ता काट कर चला जाए तो उससे हमको नुकसान क्यों होता है ?' हमको जवाब मिला : 'तुम इसमें क्या समझो ? अपने बड़े-बूढ़े जो कह गए सो यों ही नहीं कह गए !' बालक हमसे पूछता है : 'पैर हिलाने से माँ क्यों मर जाती हैं ?' जवाब में हम उससे कहते है : 'चुप रहो । बहुत अकल मत बघारो । तुम इतना भी नहीं समझते कि पैर नहीं हिलाने चाहिए !'

इस सबका नतीजा यह निकला कि हम अन्धविश्वासी बन गए । आगे हमारे बालक भी अन्धविश्वासी बनेंगे और उनके बालक भी अन्धविश्वासी ही बनेंगे । यों, पीढ़ी-दर-पीढ़ी अन्धविश्वास फैलता रहेगा ।

अन्धविश्वासी आदमी डरपोक होता है । 'दाहिनी आँख फड़की ! हे भगवान ! पता नहीं, अब क्या होगा ?' 'देखो यह घी फर्श पर फैल गया ! पता नहीं अब क्या मुसीबत खड़ी होगी ?' 'सुनो, सियार रो रहे हैं कहीं आज गाँव में सेंध तो नहीं न लगेगी ?' 'अगर मैं रात में दही जमाऊँगी तो कहीं मेरी गाय सूख तो नहीं न जाएगी ?' ये सारे अन्धविश्वास मनुष्य के विचारों में घुले पड़े हैं ।

मन में अन्धविश्वास की बात आते ही अन्धविश्वासी मन डर जाता है । किसी अमंगल की चिन्ता से वह काँप उठता है । भयभीत होकर पसीने से नहा लेता है । कुछ ही क्षणों की अपनी कल्पना में वह न जाने कितने दुखों का अनुभव कर लेता है ।

अन्धविश्वासी वह है जो मानकर चलता है । बिना प्रमाण माँगे ही हर किसी बात को मान लेता है । अन्धविश्वासी को अपने अन्धविश्वासों का त्याग करना चाहिए । जैसे, हम कहते हैं : 'याद रखो, अगर तुमने हनुमान जी को फूलों की माला नहीं पहनाई, तो वे तुम पर नाराज हो जाएँगे' 'तुम भूतनी को लपसी चढ़ाने की मन्नत नहीं मानोगी, तो भूतनी तुमको दुख देगी ।' 'मैंने अपना चूल्हा ठण्डा नहीं किया था, इसलिए शीतला माता मुझ पर नाराज हो गई, और मेरे बेटे को चेचक निकल आई !' अन्धविश्वासी आदमी इन सब बातों को सच मानेगा और कहेगा : 'हाँ, ये सब तो सच्ची बातें हैं ।'

अन्धविश्वासी मनुष्य का मतलब है, निर्मल तर्क बुद्धि को न मानने वाला आदमी । अन्धविश्वासी आदमी कभी यह पूछता ही नहीं कि ऐसा क्यों होता है ? वह कभी यह कहता ही नहीं कि मैं तो यह सब तभी मानूँगा, जब मुझ को इनका भरोसा हो जाएगा ।

अविश्वासी मनुष्य यानी अशास्त्रीय मनवाला मनुष्य । वह कभी यह कहता ही नहीं कि 'आप कुछ भी क्यों न कहें, मुझको तो खुद ही इसकी छान-बीन कर लेनी होगी । जब तक बात मेरी समझ में नहीं आएगी, तब तक मैं तो तटस्थ रहना ही पसन्द करूंगा ।' अन्धविश्वासी आदमी तो बिना जांच-पड़ताल के ही जादूगर के खेलों में मंत्र-तंत्र के दर्शन करता है, जबकि अन्धविश्वासों से मुक्त आदमी समझ लेता है कि ये सब तो दवा के जोर से या युक्ति-प्रयुक्ति से या हाथ की चालाकी से होने वाले काम हैं ।

अन्धविश्वासी मन यानी अन्ध श्रद्धावाला मन । इसी कारण अन्धविश्वासी आदमी शास्त्र-वचन को अटल वचन मानता है । वह देवों और परियों की बातों को न माननेवालों को नास्तिक समझता है, और भूत-प्रेत आदि की कहानियों का सही भेद जानने से इनकार करता है ।